TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182020

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No H32
M61B

Accession No H[illegible]11

Author [illegible]

Title [illegible]

This book should be returned on or before the date last marked below

भगवान मनु तथा अन्य एकांकी

लेखक

लक्ष्मीनारायण मिश्र

'सिन्दूर की होली', 'आधी रात', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग',
'नारद की वीणा', 'गरुड़ध्वज', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध',
'वितस्ता की लहरें' आदि नाटकों के रचियता

१९५७

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

Checked 1969

सर्वाधिकार सुरक्षित
मूल्य रु० २.००

Checked 1969

मुद्रक
मूवीज प्रेस
चावड़ी बाजार
दिल्ली-६

सूची

१. भगवान मनु ... १
२. विधायक पराशर ... २१
३. याज्ञवल्क्य ... ४२
४. कौटिल्य ... ६७
५. आचार्य शंकर ... ८६

भगवान मनु

सर्वं ज्ञानमयोवेदः सर्वं वेदमयो मनुः।
य कश्चित् कस्यचिद्धर्मोमनुना परिकीर्तितः॥

[जल प्रलय म अकेले मनु की रक्षा और उनके माध्यम से नई सृष्टि की रचना की पौराणिक कहानी का नाटकीय रूप।]

पात्र-सूची

मनु— इस कल्प के प्रजापति।

श्रद्धा— मनु की देवजन्मा पत्नी।

वशिष्ठ— इस कल्प के प्रधान ऋषि।

भृगु— मनुसहिता में मनु के सहायक।

होता—

पहला दृश्य

नेपथ्य में—वर माँगो पुत्र ! तुम सब कामनाओं से परे हो, जन्म और मरण से परे हो; अब तुम क्या चाहते हो ? तुम्हारी इस घोर तपस्या से मैं प्रसन्न हूँ। जो पद चाहो, तुम्हें तुरन्त दूँ।

मनु—अपने लिए कुछ नहीं चाहता ब्रह्मदेव ! आपके दर्शन से ही मैं पूर्ण काम हुआ। मेरी कामनायें मिट गईं।

नेपथ्य में—(**हँसकर**) सारी कामनाओं से छूटकर तुम इस तपस्या में लगे थे···सूर्य-पुत्र मनु ! ऐसी तपस्या कभी किसी ने नहीं की···किसी ऋषि ने, किसी देव ने, किसी गन्धर्व या किसी दैत्य ने कभी नहीं की। बोलो···

मनु—कह दिया ब्रह्मन् ! मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए।

नेपथ्य में—अक्षय मोक्ष··· इन्द्र का पद···

मनु—(**प्रसन्न और गम्भीर स्वर**) स्वार्थ का भाव इस दास के मन में नहीं है देव ! मोक्ष, इन्द्र-पद का भाव भी स्वार्थ होगा।

नेपथ्य में—तब क्या चाहते हो ?

मनु—मेरे मन में आपका प्रकाश है। आपके लिए उसमें अँधेरा नहीं है। उस मन को जीभ पर उतारकर क्या कहूँ ?

नेपथ्य में—फिर भी तुम्हारी इस तपस्या का कारण ?

मनु—सेवक की परीक्षा ले रहे हैं भगवान ! जो सब जानता है, उसी से मैं प्रगल्भ बनूँ ? स्वामी, गुरु और पिता की आज्ञा धर्म है। बालक की तुतली बोली सुनकर पिता प्रसन्न होता है।

नेपथ्य में—(**हँसकर**) ठीक कहा, फिर बोलो वह कौन सी सिद्धि है ?

मनु—लोक की रक्षा भगवान ! मै करूँ। इस सृष्टि पर जब सकट आये, प्रलय से म इसे बचाऊँ देव ! लोक की रक्षा और सेवा का पद मै चाहता हू, इन्द्र का पद किसी दूसरे तपस्वी को देना पितामह !

नेपथ्य में—लोक-सेवा से बढकर कोई मुक्ति नही, कोई पद नही पुत्र ! यह पद शेप-शायी आदिदेव विष्णु का है। लोक मे तुम्हारा यही पद रहेगा। प्रलय से तुम स्थावर और जगम सृष्टि की रक्षा करोगे।

मनु—बस, प्रणाम करता हूँ देव ! सेवक के लिए भगवान ने कष्ट किया।

नेपथ्य मे—सेवक की निष्ठा मे भगवान को भी बँधना होता है। यही उसका बधन है। तुम लोक की रक्षा प्रलय मे करोगे। भूतदया जिसका धर्म है वह प्रलय को भी जीत लेगा।

मनु—ब्रह्मदेव चले गये ! उनके इस अमोघ वरदान के योग्य मैं अपने को बनाऊँ। सूर्य आकाश मे ऊपर उठ रहे हैं। पितरों को अर्घ्य दूँ···

(कमण्डलु से जल गिरने की ध्वनि)

मनु—अरे ! ब्रह्म-मुहूर्त मे यह जल कमण्डलु मे भरा था। यह मछली आ गई। मर न जाय धरती पर छटपटाकर···इसी कमण्डलु के जल में इसकी रक्षा करूँ।

(सन्नाटा)

(जल में मछली धर देने की ध्वनि)

मनु—कानों का भ्रम तो नहीं है। कौन कह रहा है, रक्षा करो राजन् ! विस्मय, कमण्डलु से ध्वनि आ रही है। हाँ···यह क्या भगवान ! दो अँगुली की मछली एक ही दिन में इस कमण्डलु में बढ़कर अँड़स गई ? अब इसे इस बड़े घड़े के जल में छोड़ दूँ।

(घड़े के जल में मछली डालने की ध्वनि, सन्नाटा)

मनु—फिर वही ध्वनि इस घड़े से ? किस इंद्रजाल में पड़ा हूँ।

इस निर्जन में किससे पूछूँ, यह क्या रहस्य है ? इस घड़े में मछली ऐसी अँड़स गई है कि हवा भी इसमें नहीं जा पाती। मरने न दूँगा इसे··· अब इस सामने के कुएँ में···

(कुएँ में मछली डालने की ध्वनि। सन्नाटा)

मनु—अब क्या करूँ ? कुएँ से भी वही आर्त्त वाणी। प्राण की रक्षा जीव की पहली वृत्ति है। देखूँ इस कुएँ में···(**जाते-जाते**)

(जाने की ध्वनि)

मनु—कुएँ की सारी परिधि मछली से घिर गई है। यह क्या परीक्षा है भगवान ? अकेले इसे कैसे निकालूँ ? फिर भी कर्म करूँगा; फल भगवान देंगे। पकड़ लो मत्स्य देव इस कमण्डलु को।

(कुएँ में कमण्डलु और रस्सी के सरकने की ध्वनि)

मनु—खीच तो रहा हूँ। इस शरीर मे यह भगवान का बल है। अब ले चलूँ इसे नदी में। (**भार से दबे चलने की साँस और ध्वनि**)···अब तुम गंगा की धार में चलो···यह···यह···समुद्र भी वह आगे है।

(मछली के गंगा मे सरकने की ध्वनि)

मनु—(**आनन्द का स्वर**) धर्म की रक्षा हुई। मत्स्य देव अब नदी के जल में सुख से रहेंगे। कोई हँस रहा है। किसकी हँसी है यह ? नारायण ! नारायण ! कौन है यह मत्स्य ? जिसकी हँसी देव-हँसी से भी मधुर है। अरे ! इसका शरीर हर पल बढ़ रहा है। इसके भय से सभी जल-जीव भागकर किनारे की रेती में आ रहे हैं। इन आँखों का विश्वास कैसे करूँ ? मछली धार की गति रोके हुए है। उसकी साँस से वह ग्राह खिचकर उसके मुँह में चला गया।

(हँसी और भय का वातावरण)

मनु—(**भय का स्वर**) तुम कोई महा राक्षस हो ? नहीं शेष-शायी विष्णु तुम्हीं हो। हे भगवान, हे विश्वात्मा, सेवक को किस संकट में डाल रहे हो ? मेरे अपराध क्षमा करो, या यदि चाहो तो मुझ अकेले

का भक्षण कर इन जल-जीवों की रक्षा करो।

नेपथ्य में—तुम्हारी दया का अन्त नहीं है मनु ! तुम करुणा-मय हो। सृष्टि की रक्षा का वर जो तुमने ब्रह्मदेव से माँगा, उसकी परीक्षा तुम्हारे कमण्डलु की मछली बनकर मैंने की। राह-घाट मरने वाली मछली को भी तुमने न मरने दिया। इन जल-जीवों की रक्षा के लिए तुम अपने को मेरा भक्ष्य बना देना चाहते हो। धन्य है तुम्हारी रक्षा और करुणा। जिस लोक-सेवक की परीक्षा न हो और वह अपनी सेवा का ढिंढोरा पीटे वह पाखण्डी है। इस दया के बल से तुम सृष्टि की रक्षा करोगे।

मनु—सृष्टि की रक्षा मैं प्रलय से करूँगा देव ! इस निर्बल शरीर और बस दो हाथों से मैं किस किसको बचाऊँगा।

नेपथ्य में—तुम्हारा संकल्प दूरहै। भूत-दया और लोक-रक्षा से अधिक तुम कुछ भी नहीं चाहते। सुनो···प्रलय निकट है। थोड़े ही दिनों में पृथ्वी पर्वत, बन के साथ जल में डूब जायेगी। देखो, सामने समुद्र के दायें किनारे जो नाव बिना पतवार के टिकी है, उसी में सृष्टि के सभी पदार्थों को, जीवों को बीज रूप में तुम रख देना और जब तुम्हारे कण्ठ भर जल आ जाय, तुम इसी नाव में बैठ जाना। मेरे जिस शरीर की रक्षा तुमने अविचल मन से की, उसी मत्स्य रूप में तुम्हारी रक्षा मैं करूँगा।

मनु—प्रणमामि देव ! (**धरती पर सिर टेक देते हैं**)

नेपथ्य में—उठो पुत्र ! मेरा यह वरद हाथ लोक-रक्षक के सिर पर बराबर रहता है। सृष्टि के नाश की बेला आ गई। तुम भी बीज रूप सृष्टि का संचय करो।

(**सन्नाटा**)

मनु—यह नाव जल में हिलती भी नहीं। बीज रूप सृष्टि मैंने इसमें रख दी। जब तक प्रलय का जल न बढ़े मैं वेद की ऋचाओं का स्मरण करूँ।

(वेद का स्वर—अग्नि की लपट की ध्वनि)

मनु—वेद भगवान के ध्यान में जल-प्रलय का नहीं अग्नि-प्रलय का दृश्य देखा। जीवों का जलकर भस्म होना, समुद्र के गर्भ से लपटों का निकलना, शेष के मुख की विष-ज्वाला, शंकर के त्रिनेत्र की धधक··· गई अब यह सृष्टि। इस सृष्टि में अकेला मैं जी कर क्या करूँगा भगवान !

(बादल का गरजना)

मनु—अब यह भस्मीभूत सृष्टि जलमग्न होगी। यह सर्वत्र, यह भीमनाद, द्रोण चण्ड, बलाहक, विद्युत्पताका और शोण···प्रलय के सात मेघ परस्पर जूझकर पृथ्वी को बोर रहे हैं। आँखें मुँद गई; कान बहरे हो गये, नारायण···सृष्टि की रक्षा भगवान ! नाव कहाँ है। इस गहरे अंधकार में, अधकार का जल बढ़ रहा है, इसमें अग्नि की जलन है। नाव···नाव···दयामय ! इस अंधकार में नाव स्वयं मुझसे लगकर टिक गई। कंठ भर जल आ गया। प्राण की चिंता नहीं लोक की चिन्ता···

(नाव पर चढ़ने की ध्वनि)

मनु—तीनों लोकों में अन्धकार का महा समुद्र बना है। जल और वायु के इस भीषण युद्ध और विवर्त में यह नाव ऊपर उठती जा रही है। दयामय ! सेवक की नहीं, सृष्टि की रक्षा करो। यह क्या···मत्स्य देव नाव के आगे हैं—अपने जबड़े से नाव को न जाने किस दिशा की ओर ले जा रहे हैं।

(सन्नाटा)

मनु—नाव टिक गई तो क्या यह कोई पर्वत-शृङ्ग है जो नहीं डूबा ? सारा जगत अन्धकार में लय हो चुका है, चर और अचर का कहीं पता नहीं है। फिर भी नाव टिक गई। प्रकाश, प्रकाश दो भगवान ! इस अन्धकार के आगे गोल पिण्ड-सा रत्नों की आभा में क्या चमक रहा है ? सृष्टि मिट गई। भावी सृष्टि मुझे करनी है। भय छोड़कर देखूँ

यह क्या है ?

(जल में उतरने की ध्वनि)

मनु—अहा ! रत्नों की, ओषधियों की प्रभा से मण्डित यह शैल-शिखर निश्चय देवात्मा हिमालय है। पृथ्वी के शीर्ष बिन्दु हिमालय पर मैं खड़ा हूं। जो कभी सुमेरु था, आज भी वह उसके निकट है। वह सामने उषा का प्रकाश, सुमेरु का चिर प्रकाश है। सूर्य की किरणें सब किनारों से पहुचकर वहाँ शेष के फन की गति बना रही है।

परिवर्तन

मनु—यह जीवन कितना सूना फिर भी कितना निरीह है। ब्रह्म-देव से सृष्टि की रक्षा का वर लेकर अपने ऊपर इस हिमालय से भी बड़ा बोझ मैंने उठा लिया। सारी नर-सृष्टि के मिट जाने पर मुझ अकेले नर का रहना ही क्या ? मन्त्र-यज्ञ मैं कर लेता हूं। पितरों को अर्घ्य देकर सविता का पूजन भी मैं कर लेता हूं। मेरे नीचे जहाँ कभी नर शरीरी निवास करते थे, उस पुण्य भूमि में अब भी सब कहीं जल ही जल है। भावी प्रजा का प्रजापति मुझे बनना है। जिस संकल्प से बँधा हूँ उसे पूरा करना होगा। ऐं···फिर वही···अमृत बरसाने वाली वही हँसी, वही स्वर···

(सन्नाटा)

नेपथ्य में—देवताओं की पलकें नहीं गिरती। उनके मुंह पर विस्मय और अनुराग का रंग इतना गहरा नहीं चढ़ता। पन्द्रह सूर्य से इस तरुण को नित्य देख रही हूँ, किसी सपने में किसी भाव में भूला हुआ यह··· जैसे किसी दूसरे ग्रह-पिण्ड से यहाँ उतर आया है।

मनु—तरुण की भाँति मेरा मन चंचल क्यों हो रहा है ? आँखें किसी को देखना चाहती हैं। कान किसी की वाणी सुनने को आकुल हैं।

नेपथ्य में—अपना अवगुण्ठन उतारकर इस अतिथि के निकट चलती हूँ जो देव-लोक के इतने निकट भी अकेला है।

(सामने अलौकिक रूपवती बाला को देखकर)

मनु—कौन हो तुम देवी !

नेपथ्य में—(**हँसकर**) ऐसे विस्मय से क्यों देख रहे हो ?

मनु—जो कभी नहीं देखा, न जागने में, न स्वप्न में, न कल्पना में उसे देखकर विस्मय न करूँ ?

नेपथ्य में—तुम्हारे देश में किशोरियाँ नहीं होतीं तरुण···?

मनु—तरुण···? सारी आयु बिताकर मैंने वानप्रस्थ लिया था। युगों तक तपस्या करने के बाद ब्रह्मदेव के दर्शन मिले···फिर नर-लोक में प्रलय की वेला आई। मत्स्य भगवान ने मेरी नाव को इस शिखर पर लगा दिया।

नेपथ्य में—अच्छा तो नर-सृष्टि में तुम अकेले बचे हो तरुण···?

मनु—फिर वही···मैं तरुण नहीं हूँ देवी ! मैं वृद्ध हूँ ···

नेपथ्य में—(**हँसकर**) चलो तो मेरे साथ यहीं पास में कुण्ड है, जल में अपना प्रतिबिम्ब तो देखो इधर से चलो···हाँ···(**जाते-जाते**)।

मनु—कौन हो तुम देवी ! जिस दिन यहाँ पहिला सूर्य निकला··· तुम्हारी हँसी सुन रहा हूँ बराबर···(**जाते-जाते**)।

नेपथ्य में—अपनी ओर का परिचय हो जाने दो, फिर मेरा···हाँ देखो तो यहाँ जल में ···

मनु—अरे ! (**विस्मय के स्वर में**)

नेपथ्य में—हाँ कहो, देखा अपना प्रतिबिम्ब···?

मनु—यह इन्द्रजाल है। कैसा देश है यह देवी ? किस माया से मेरा बुढ़ापा मिट गया।

नेपथ्य में—यह देव-लोक है। जिस शिला को छाया में तुम्हारा आसन है उसकी दूसरी ही ओर देव-लोक है। यहाँ कोई बूढ़ा नहीं होता।

मनु—इसी से मैं सचमुच तरुण हो गया हूँ।··· सिर पर उजले बाल नहीं हैं। ···अपना परिचय दो किशोरी !

नेपथ्य में—मैं कामगोत्र की बाला श्रद्धा हूँ। भावी प्रजापति यदि युवा न होगा तो फिर सृष्टि कैसे करेगा ? अभी आकाश को लक्ष्य कर

तुम जो कहते रहे हो, मैंने सुना है।

मनु—कहाँ थीं तुम उस समय··· ?

श्रद्धा—तुम्हारे ठीक सामने··· ?

मनु—क्या··· (**अवाक होकर**)

श्रद्धा—अब देखो··· ।

मनु—अरे कहाँ चली गई देवी !

श्रद्धा—(**हँसकर**) पिछले पन्द्रह सूर्य···कई बार मैं तुम्हारे निकट आई। तुम्हारे आसन के निकट फूल-फल रक्खा। पानी के हटने के बाद जहाँ-जहाँ तुम ने पेड़-पौधों के बीज डाले, सब देखती रही हूँ।

मनु—अक्षय सुगन्ध के फूल और दैवी स्वाद के फल मुझे तुम्हीं से मिलते रहे हैं।

श्रद्धा—हाँ···देवलोक में विस्मय और अनुराग नहीं मिलता। मैं तुम्हें···तुम चलो मेरे साथ अक्षय यौवन और अनुराग के फल के लिए। मानवी सृष्टि से वह सुख और आनन्द तुम्हें न मिलेगा।

मनु—उस सृष्टि की रक्षा के लिए ही मैं यहाँ पहुँचा हूँ देवी ! यही मेरा संकल्प है। किसी भी सुख और आनन्द के लिए भी मैं उसे न छोड़ूंगा।

श्रद्धा—किसी भी···

मनु—इन्द्र-पद मुझे ब्रह्मदेव दे रहे थे···नहीं लिया मैंने।

श्रद्धा—देवता केवल भोग जानते हैं मनु ! त्याग नहीं। तब फिर मैं भी देव-लोक छोड़कर तुम्हारे चरणों में रहूँगी। अकेले सृष्टि नहीं होती।

मनु—इसी फल के लिए मत्स्य भगवान मेरी नाव यहाँ खींच लाये थे···श्रद्धा ! (**आग्रह का स्वर**)

श्रद्धा—फिर कहो, मेरा नाम तुम्हारे मुँह से बड़ा मीठा लगता है।

मनु—पर नर-लोक में तुम सदा किशोरी न रहोगी। यह देव-रूप ऐसा मोहक और अक्षय न रहेगा।

श्रद्धा—वहाँ सृष्टि का सन्तोष रहेगा। अपने लिए देवता जीते हैं, मैं अपने लिए नहीं तुम्हारे लिए, तुम्हारी प्रजा के लिए, जीवित रहूँगी।

मनु—मुझ मरने वाले के लिए तुम अपना अमर जीवन छोड़ोगी ?

श्रद्धा—एक मरने वाले के लिए जीना अनेक न मरने वालों के लिए जीने से अच्छा है। तुम्हारी पलकों के गिरने में, आँखों में जो जल भर गया है उसमें, तुम्हारे शरीर के कम्प में, साँस के स्वर में मुझे जितना सुख मिल रहा है, देव-लोक में भी वह सम्भव नहीं।

मनु—श्रद्धा·····! **(गद्गद् कण्ठ से)**

श्रद्धा—तुम्हारी इन बाँहों का बन्धन अब मेरे इस शरीर से कभी न छूटे। देख रहे हो मुझे भी···यह···देव-लोक में ऐसा रोमांच कभी नहीं हुआ···जिसमें प्राण के सारे स्वर बज उठें।

मनु—अधीर न हो प्रिये !

श्रद्धा—प्रियतम ! देव-लोक में हृदय नहीं है···प्रेम नहीं है। उस दिन तुम्हारी आकृति पर विस्मय और अनुराग का जो रंग देखा उसके बिना देव-लोक में बस हाथीदाँत और पद्मराग की बनी मूर्तियाँ हैं, जिनमें हृदय नहीं है, इसलिए कामना भी नहीं है।

मनु—कामना और कर्म एक फूल के दो दल होते हैं।

श्रद्धा—एक दल मैं बनूँगी और दूसरे तुम, हम दो दलों का पहले फल होगा और फिर उससे जो फल होगा वही होगी तुम्हारी भावी सृष्टि।

मनु—कृतकृत्य हूँ प्रिये !

श्रद्धा—भावी प्रजा के लिए तुम उत्सर्ग करोगे और मैं संचय करूँगी।

मनु—ठीक है सृष्टि का मूल तरुण है। मैं तरुण हूँ और तुम···

श्रद्धा—तुम्हारी अपनी तरुणी···देव-लोक में मैं किसी एक की न होती, यहाँ तुम्हारी, बस तुम्हारी हूँ। तुम मेरे अकेले पुरुष और मैं तुम्हारी अकेली नारी हूँ।

मनु—अपनी प्रजा मे मै जो विधान चलाऊँगा, उसमें पुरुष की अकेली स्त्री होगी, और स्त्री का अकेला पुरुष होगा।

श्रद्धा—सच कहते हो ?

मनु—और क्या···हमारी प्रजा हमारे अनरूप होगी देवि ! इसमें संशय क्या है ?

श्रद्धा—प्रलय का जल जो पर्वत के नीचे सारी धरती ढँके था, क्या हो गया ?

मनु—प्रिये ! तब इस स्थान पर नही, नीचे उस भू भाग में मुझे जाना है जो मेरी प्रजा की पुण्य-भूमि है। तुम कहाँ जाओगी? पहुँचा दूँ।

श्रद्धा—शरीर छोड़कर छाया अलग कहाँ रहेगी प्रभु ! और **(हँसकर)** सृष्टि अकेले होगी ?

मनु—भूल गया···प्रमाद मे क्या कह गया ? सृष्टि के केन्द्र को छोड़कर मै कहाँ जाऊँगा। अच्छा तो··· **(उत्सुक-मुद्रा)**

श्रद्धा—क्या कहते हैं ?

मनु—हाँ···तो अब तक केवल मंत्र-यज्ञ करता रहा। आज उस स्थान पर जहाँ मेरी नाव टिकी थी, मेरा पहिला अग्निहोत्र हो। इस देवभूमि के निकट तुम अग्नि जलाओ और मै उसमें भावी प्रजा के लिए पहिली आहुति डालूँ।

श्रद्धा—जैसी रुचि देव ! प्रियतम मुझसे जो चाहें सब···जहाँ नियोजित करें सब···।

मनु—उस स्थान का नाम क्या होगा ?

श्रद्धा—मुझसे पूछते हैं प्रभु···!

मनु—हाँ प्रिये ! मेरे कर्म की, बुद्धि की आकर्षण-शक्ति तुम्हीं हो।

श्रद्धा—तब उस स्थान का नाम मनोरवसर्पण होगा; प्रलय में जहाँ तुम्हारी नाव लगी, जिस स्थान पर तुम्हारे मन और रूप को देखकर मैं देवयोनि से नीचे गिरी···

मनु—नीचे गिरीं प्रिये !

श्रद्धा—सृष्टि का मुख नीचे की ओर होता है प्रभु ! ऊपर तो सब कुछ शून्य है नाम, रूप, गुण कुछ नहीं ।

मनु—सृष्टि का मुख नीचे होता है ? ऐं···

श्रद्धा—सृष्टि क्या बाँधने के लिए नहीं होती ? ब्रह्मदेव से तुमने मोक्ष क्यों नहीं माँगा, इस बन्धन का जो डर था । सृष्टि का मुख नीचे होता है, इस कर्म में लगने के पहिले यह जान लेना है ।

मनु—(हँसकर) अनुराग का बन्धन प्रिये !

श्रद्धा—हाँ··· हाँ··· सृष्टि का, निर्माण का, जहाँ जन्म होता है··· वह पहिली दशा अनुराग है और वह बराबर बन्धन है ।

मनु—इसीलिए तो मैंने मोक्ष नहीं लिया ।

श्रद्धा—मैं चल रही हूँ समिधा और अग्नि जुटाने । तुम आहुति की ओषधि और बनस्पति ले आओ । (**जाते-जाते**)

मनु—यह सौन्दर्य धरती पर नहीं देखा था । श्रद्धा, काम गोत्रजा··· जिस रूप और यौवन का अन्त नहीं । देव-बाला श्रद्धा और मरने वाला मनुष्य । मर और अमर के मेल में भावी प्रजा का रूप क्या होगा ? फिर भी श्रद्धा सच कहती है, सृष्टि अकेली नहीं होती ।

(**सन्नाटा**)

श्रद्धा—अग्नि जल रही है और तुम खड़े-खड़े स्वप्न देख रहे हो !

मनु—सहारा मिल जाने पर थकान का अनुभव होने लगता है प्रिये ! मुझे प्रेरित करो, नियोजित करो श्रद्धा !

श्रद्धा—आहुति किस पदार्थ की डालोगे ?

मनु—जो जहाँ मिल जाय, वही हवनीय है । आगे अरणी उगी है उखाड़ लेता हूँ ।

श्रद्धा—अगरु मेरे पास है । कुछ और बनस्पति ले लेती हूँ ।

मनु—और हाँ, मेरे आसन पर आज के तुम्हारे फूल-फल भी वैसे ही हैं ।

श्रद्धा—अब तक तुम किस आहार पर हो ?

मनु—तुम्हे पाकर आज मुझे और कुछ न चाहिए। फल के लिए भी तपस्या होती है और उसके मिलने पर उसके निवारण के लिए भी तपस्या होती है।

श्रद्धा—तपस्या का फल मैं या तुम !

मनु—तुम···

श्रद्धा—तुम स्वार्थी हो, मेरा फल मुझसे छीन रहे हो। (**हँसती है**)

मनु—हम दोनो पहले इस यज्ञ का फल ले प्रिये ! चलो अग्नि की लपटे हँस रही हैं।

श्रद्धा—हाँ, लो डालो यह आहुति।

(**अग्नि का जलना। आहुति की ध्वनि**)

नेपथ्य मे—"येभ्यो होत्रा प्रथमा मायेजो मनु"

"येभ्यो होत्रा प्रथमा मायेजे मनु"

मनु—इस कल्प के प्रधान ऋषि वशिष्ठ मेरे यज्ञ के साक्षी हो।

श्रद्धा—देव ! यह कौन आरहा है ?

मनु—ब्रह्मा के मानस पुत्र वशिष्ठ मेरे इस यज्ञ के साक्षी हैं। मेरे आवाहन से भगवान वशिष्ठ आरहे हैं।

वशिष्ठ—विवस्वान और सज्ञा के पुत्र वैवस्वत मनु के इस यज्ञ का मै साक्षी हू। देव-भूमि मे प्रथम नर-दम्पत्ति का यह यज्ञ है।

मनु—ऋषि ! काम-गोत्र की कन्या इस यज्ञ मे मेरी सहचरी है।

वशिष्ठ—लोक-यज्ञ मे प्रजा की सृष्टि में भी यह आपकी सहचरी रहे। इस यज्ञ के प्रभाव से देव-कन्या श्रद्धा भावी प्रजा की जननी होंगी।

मनु—आपकी कामना सफल हो ऋषि ! किसी ऐसे यज्ञ का विधान करें जिससे देव-बाला श्रद्धा से मै पुत्र का दर्शन करूँ।

वशिष्ठ—यही होगा राजन् ! विद्या में जो स्थान पद्मसम्भव ब्रह्मा का है। प्रजापतियो मे वही स्थान वैवस्वत मनु का होगा। आपके अंश

से उत्पन्न प्रजा मानवी कही जायेगी। आदिमानव, आदिविधायक और आदिशासक का पद आपका बना रहेगा।

मनु—इसका यत्न क्या होगा ऋषि ?

वशिष्ठ—सरस्वती-तट पर मित्रा-वरुण यज्ञ से आप श्रद्धा देवी में संतान लाभ करेंगे। देव-बाला श्रद्धा को आपके साथ नीचे धरती पर उतरना होगा।

श्रद्धा—मैंने अभी कहा था ऋषि ! सृष्टि का मुख नीचे की ओर है। भावी प्रजापति की भार्या बनकर, मैं बराबर इनकी छाया बनी रहूँगी।

मनु—देवि ! ऋषि वशिष्ठ को···

श्रद्धा—ऋषि का पैर धोकर मैं अभी उस जल से पवित्र बनती हूँ।

परिवर्तन

मनु—आप धर्म के तत्व जानते हैं ऋषि ! आपकी आज्ञा से सरस्वती तीर पर पुत्रेष्टि यज्ञ करने का फल यह मिला। पत्नी श्रद्धा केवल दूध पीकर रही। सभी नियमों का पालन मैंने भी किया।

वशिष्ठ—यज्ञ पुत्र के लिए हुआ और हुई कन्या। वैदिक यज्ञ का विपरीत फल ! खेद है राजन् ! कहीं भूल हुई।

मनु—कैसी भूल देव ! जब तक मैं न जान लूँ, मेरे चित्त को सन्तोष न होगा।

वशिष्ठ—ठहरिए···होता !

होता—आज्ञा भगवन्।

वशिष्ठ—यज्ञ की आहुति तुमने पुत्र की कामना मे दी कि पुत्री की ?

होता—पुत्री की देव !

मनु—(खेद और विस्मय) क्या कह रहे हो ब्रह्मन् ! बुद्धि तो ठीक है ?

होता—देवी श्रद्धा ने मुझसे यही कहा था कि उन्हें कन्या की कामना है।

मनु—ऐसा···तब मैं सूतिका-गृह के द्वार से पूछ लूँ, देखूँ देवी क्या कहती है ?

(जाने की ध्वनि)

वशिष्ठ—होता ! यज्ञ का आचार्य मैं था, मुझसे नहीं पूछा तुमने ?

होता—कामना यजमान् की होती है देव !

वशिष्ठ—यजमान् की कामना का अधिकारी कौन होता है ?

होता—क्षमा हो देव ! भूल हुई।

वशिष्ठ—देवी श्रद्धा के पुरस्कार के लोभ में तुम पड गये। ब्राह्मण पद के योग्य अब तुम नहीं हो। यह लोभ तुम्हें चाण्डाल योनि में गिराये।

होता—**(घोर दुःख)** त्राहि···त्राहि···**(स्वर का क्रम से नीचे गिरना)**

मनु—यह क्या ? श्रद्धा ने पुत्री की कामना की थी ऋषि ! इस ब्राह्मण की अधोगति रोके।

वशिष्ठ—कर्म का फल भोगना ही प्राणी का धर्म है। धर्म के पथ में बाधा देने का अधिकार दया को भी नहीं है। जिस यज्ञ का आचार्य मैं बना उसका विपरीत फल मैं अपनी आँखों देखूँगा ? जब तक मैं इस कन्या को पुत्र न बना लूँ, जल नहीं ग्रहण करूँगा। (जाते-जाते)

मनु—कन्या की कामना कोई स्त्री नहीं करती। यह क्या लीला है भगवान ! महर्षि वशिष्ठ जिस अर्थ तप करने गये उसी अर्थ मैं भी तप करने जाऊँ।

(सन्नाटा)

श्रद्धा—देव-लोक में कन्या की कामना होती है। नर-लोक में कर्म

के लिए पुत्र की कामना है। प्रियतम यही कहकर चले गये। इस कन्या को लेकर अब क्या करूं! जिस पुरुष के प्रेम मे देव-लोक मे नीचे गिरी, उसी का विश्वास खो दिया मैंने।

श्रद्धा—यह कन्या इला···इसका नाम इला रहेगा। अरे! यह तो पुत्र है। लौट आओ प्रियतम! अपना यह पुत्र लो। (**स्वर भारी और सांस मे वेग**)

वशिष्ठ—हाँ देवी! तुम्हारे इस पुत्र का नाम सुद्युम्न होगा। राजर्षि मनु की तपस्या भी पूरी हुई। वे भी आ रहे है। तुम्हे दस पुत्र होंगे।

मनु—आपके तप से भगवान ने कन्या को पुत्र वर दिया। प्रिये! दस पुत्रों का वरदान मुझे और मिला है।

श्रद्धा—मेरा अपराध भी भाग्योदय का कारण बना देव! पर वह ब्राह्मण···

मनु—इसी का खेद मुझे भी है।

वशिष्ठ—मुझे नही है। ब्राह्मण के अधम से लोक की अधोगति होती है।

परिवर्तन

श्रद्धा—मै बस आपकी छाया बनी रहूँ, इससे बड़ा धर्म मेरे लिए और कुछ नही है।

मनु—देव-बाला श्रद्धा नर मनु के प्रेम मे देव-लोक से नीचे नर-लोक मे आई थी। पति-प्रेम की लीक बनी रहोगी तुम प्रिये! तो फिर बोलो···

श्रद्धा—ससार छोडकर तप मे शरीर के अन्त की कामना प्रभु के मन मे आ गई है, अब, यही न?

मनु—तुम्हारे दस पुत्र ससार मे सब ओर शासन कर रहे हैं। उनके आचरण मे धर्म का भाव है। प्रजा सुखी और सतुष्ट है। न कहीं रोग है, न भय। अभाव और लोभ की अग्नि भी कही नही जल रही

है। मेरे इस जीवन का कर्म अब समाप्त है। सृष्टि की रक्षा प्रलय से मेरे निमित्त से हुई, नई सृष्टि में तुम अकेली प्रेरक बनीं। पूर्व-पुरुषों की भाँति अब तप और योग में अपने को लय कर देना है।

श्रद्धा—प्रभु की इच्छा मेरा पुण्य है, अधिक क्या कहूँ···

मनु—तब मैं सब ओर सूचित कर देता हूँ···मैं पत्नी के साथ संसार छोड़ रहा हूँ।

श्रद्धा—भोग और भोगायतन की यह सीमा देवलोक में नहीं है, इस लिए वहाँ सब कहीं रूप और रस एक-सा है, राग और विराग दोनों का रस मनुष्य पाता है, देवता नहीं। संसार छोड़ने की सूचना देने प्रियतम गये हैं। उनका संसार बहुत बड़ा था; पर मेरा संसार···मेरा संसार वही है, जहाँ वे हैं।

मनु—कह आया प्रिये! देवसुख छोड़कर तुम्हें राजसुख मिला था···अब वन में जाकर वन का सुख लेना पड़ेगा। अपने प्रतापी पुत्रों के साथ क्यों न रह जाओ?

श्रद्धा—पति के प्रताप के सामने पुत्र का प्रताप सूर्यकिरणों में दीपक-सा लगता है प्रभु! क्या कह रहे हैं आप? अब मैं देव-बाला श्रद्धा नहीं हूँ, प्रजापति मनु की भार्या हूँ।

मनु—सुनो कौन बोल रहा है यह···

नेपथ्य में—इस कल्प के ऋषि प्रजापति मनु का दर्शन चाहते हैं।

मनु—स्वागत है देव! यह दास कृतार्थ है।

वशिष्ठ—संसार छोड़ने के पहले, जिस प्रजा के आप प्रजापति हैं, उसके योग क्षेम, लोक-व्यवहार, निश्रेयस और अभ्युदय की व्यवस्था के लिए आपको विधान बनाना है देव! आपकी प्रजा आपके पंचभूत शरीर के बाद भी आपकी लीक पर चलती रहे।

मनु—महर्षि! इड़ा का काम इन ऋषियों की प्रेरणा और बल पर ही चल सकेगा।

वशिष्ठ—इन ऋषियों ने मुझे आदेश दिया है कि मैं आप से प्रार्थना

करूँ उस वेद रूप स्मृति के आवर्तन के लिए जो स्वायम्भुव मनु से निकली थी और जिसका नया रूप हर नये मन्वन्तर के साथ प्रवर्तित हुआ।

मनु—जैसी आज्ञा ! भावी प्रजा के हित पुराने विधान का मैं स्मरण करूँगा। आज आप गुरुजनों की छाया में उसका लक्ष्य स्थिर हो जाय।

वशिष्ठ—'कृणुध्वं विश्वमार्यम्' आदि मनु का यही मूल आधार था।

मनु—युग और प्रजा के साथ साधन भी बदले हैं ऋषि !

वशिष्ठ—ऐसा न होता तो हर मन्वन्तर में नई स्मृति कैसे निकलती ?

मनु—युग और प्रजा के अनुकूल चार वर्ण और चार आश्रमों में गुण और कर्म के अनुसार पहले अपने को और फिर प्रजा को बाँधना इस धर्म-विधान का आधार हो महर्षि ! जहाँ नियम नहीं है, बन्धन नहीं है, वहाँ मनुष्य भी वन का पशु है।

वशिष्ठ—संसार भर को आर्य बनाने का जो संकल्प पुराने काल से चला आता है···

मनु—भाव वही रूप दूसरा भी हो सकेगा।

वशिष्ठ—वह क्या···?

मनु—इस देश में उत्पन्न अग्रजन्मा मनुष्यों से संसार के सभी मनुष्य अपना आचार-व्यवहार सीखें। इस देश के मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र से संसार भर के आदर्श बन जायँ।

कई स्वर—साधु ! देव !

वशिष्ठ—यहाँ आपकी सेवा में उपस्थित मुनि-मंडली वर्ण, आश्रम और धर्म का क्रमिक विधान चाहती है।

मनु—ऐसा ही होगा ऋषि ! मैं अपनी शक्ति भर नये युग, नये लोक और प्रजा के अनुरूप स्मृति-विधान का स्मरण करूँगा। इस नई प्रजा का विधान भी बहुत अंशों में पुराने बीज से नये पेड़ की तरह

नया होगा ।

कई स्वर—हे भगवान् ! वर्ण और आश्रम के धर्म-विधान, कर्म, तत्व और अर्थ को केवल आप ही जानते है ।

वशिष्ठ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के नियम और विधि-विधान जो आप चलायेंगे, प्रजा में उसके प्रचार और प्रवर्तन का कार्य इन ऋषियों का होगा । प्राचीन काल मे भी ऋषि-कर्म यही था ।

मनु—मुझ सेवक पर यही कृपा बनी रहे । आप लोगों के बल से मैं भी बली हूँ । सृष्टि के उद्गम से लेकर, लोक-जीवन की सारी बातें मेरी इस स्मृति में रहेंगी । पर एक प्रार्थना है ।

वशिष्ठ—राग और भय से मुक्त भगवान मनु ! आप संकोच छोड़ कर कहे ।

मनु—अपनी मण्डली से चुनकर आप किसी को अपना प्रतिनिधि बना दें, जिनसे विचार-विमर्श कर मैं मानव-धर्म-संहिता का प्रवर्तन करूँगा ।

वशिष्ठ—ऋषि-मण्डली में किसी को कुछ कहना है इस पर ?

कई स्वर—हम स्वीकार करते है यह प्रस्ताव···

वशिष्ठ—तो फिर हमारा प्रतिनिधि कौन होगा ?

कई स्वर—भृगु···

वशिष्ठ—(हँसकर) धन्य है आप लोगों का यह चुनाव ! महर्षि भृगु ही इस कठिन तपस्या में सध सकेंगे ।

मनु—कोई भी कर्म जो प्राणियों की करुणा में उनके हित के लिए किया जा रहा हो, वही सबसे बड़ी तपस्या है ।

वशिष्ठ—साधु भगवन् ! प्राणि-दया में ही सभी बेद, धर्म, शास्त्र और संहिता हैं । मानव-धर्म में मनुष्य के जीवन के वे साधन रहें जिनके बल से जीवन की रक्षा मृत्यु के चंगुल से होती रहे ।

मनु—इसी फल के लिए महर्षि भृगु की कृपा से मैं मनु-संहिता का प्रवर्तन करूँगा ।

कई स्वर—जय हो देव !

परिवर्तन

मनु—बारह अध्यायों की यह संहिता अब पूरी हुई।

भृगु—प्रजापति मनु के नाम से यह संसार में तब तक चलेगी जब तक आकाश में चन्द्र और सूर्य रहेंगे।

मनु—और इसके हृदय में आपका वही स्थान होगा जो आकाश के हृदय में दिन में सूर्य का और रात में सोम का होता है।

भृगु—महर्षि वशिष्ठ को सूचित कर दिया है देव ! संहिता पूरी हुई। वे आ रहे हैं।

मनु—मुझ सेवक को आप ऋषियों से मान मिला, मेरा भाग्य देवों से भी बड़ा है।

वशिष्ठ—देवों में भाग्य कहाँ होता है राजन् ! भाग्य तो वे हमसे लेते हैं। **(सबकी हँसी)**

मनु—अब तो आज्ञा है मेरे संसार छोड़ने की ?

वशिष्ठ—आप उस पथ पर चलें जिस पर चलकर पूर्वज पितर-लोक में गये हैं।

मनु—आओ देवी ! इस संसार के हम दोनों यात्री साथ ही चलें।

श्रद्धा—**(भरे कण्ठ से)** आशीर्वाद दें महर्षि ! उस पितर-लोक में भी हम दोनों साथ ही रहें।

वशिष्ठ, भृगु—ऐसा ही होगा देवि !

विधायक पराशर

[वशिष्ठ और विश्वामित्र के द्वन्द्व की पौराणिक कहानी । वशिष्ठ के पौत्र पराशर का पितृ-वध के कारण राक्षस यज्ञ । पराशर की तपस्या और सत्यवती से व्यास का जन्म । पराशर संहिता के प्रवर्तन पर आधारित नाटकीय रूप]

पात्र-सूची

वशिष्ठ—	प्रधान ऋषि
पराशर—	वशिष्ठ के पौत्र
अदृश्यन्ती—	पराशर की माता
सत्यवती—	व्यास की माता
व्यास—	पराशर के पुत्र, महाभारत और पुराणकार
पुलस्त्य—	राक्षस-कुल के रक्षक ऋषि

हयकर्ण शिष्य आदि ।

(पृष्ठभूमि में कई कण्ठों से निकली स्वाहा की ध्वनि। अग्नि की लपटों का भभककर ऊपर उठना)

पुलस्त्य—रोको···रोक दो यह घोर यज्ञ सौम्य! ऋषियों के आग्रह से निवेदन कर रहा हूं तुम से पराशर! अभी तुम बालक हो। बड़ों की बात मान लो।

पराशर—**(हँसकर)** घोर यज्ञ कैसे भगवान्! यह राक्षस-सत्र है। मेरी प्रतिज्ञा है कि धरती पर एक भी राक्षस न रहने दूँगा। कहाँ थे आप सब जब मेरे पिता को···उनके सभी भाइयों को राक्षस खा गये?

पुलस्त्य—**(भरे कण्ठ से)** वशिष्ठ के पुत्रों को राक्षस खा गये? यज्ञ के अकेले अधिकारी, लोक के पहले पुरोहित, अग्नि के प्रथम साधक भगवान् वशिष्ठ राक्षसों से अपने पुत्रों को न बचा सके···हँ·· हँ··· बालक हो बालक! अभी तुम···

पराशर—फिर कैसे मरे वे···किसने उन्हें मा रा···माँ का कहना क्या झूठ है?

(यज्ञ-कुण्ड में गिरते राक्षसों की ध्वनि)

पुलस्त्य—यह यज्ञ रोको पहले! इन निर्दोष राक्षसों का मरना मुझ से नहीं सहा जाता। ब्राह्मण का धर्म दया और शान्ति है।

पराशर—हूँ···और राक्षसों से खाये जाने के लिए वे पैदा होते हैं। दया अधर्म है···कायरता है···अपराधी को छोड़ देना लोक में अपराध बढ़ाना है। माता की आँखों के आँसू देखिये और···

(गहरी साँस और दृढ़ संकल्प की मुद्रा)

पुलस्त्य—चारों ओर से राक्षस तुम्हारे यज्ञ-कुण्ड में टिड्डी-दल की तरह गिर रहे हैं···खींच लो हाथ इस दारुण कर्म से···राक्षस निर्दोष हैं। भगवान् वशिष्ठ सब जानते हैं···उनसे पूछो···तुम्हारी माता नहीं जानतीं।

उन बेचारों का कोई अपराध नहीं।

पराशर—क्या कह रहे हैं ऋषि आप ? तात के मरने का कारण माँ नहीं जानतीं ?

पुलस्त्य—यदि तुमसे झूठ कहूँ तो राक्षस बनकर इसी क्षण तुम्हारे यज्ञ में जल मरूँ।

पराशर—पापं शान्तम्···पापं शान्तम् ! हाय ! हाय ! क्या कह रहे हैं आप ? आपके जल मरने का पाप मैं अपने सिर लूँ।

पुलस्त्य—अब एक भी आहुति जो तुमने डाली अग्नि में, तो मैं इसमें कूद पड़ूँगा।

पराशर—मेरे धर्म में बाधा दे रहे हैं आप···याद रहे ! राक्षसों को बचा रहे हैं आप···पर जब मेरे पिता और उनके सभी भाई मरे उस समय आपके मन में दया नहीं आई। अपनी सन्तान का मोह सब में होता है···दूसरों की सन्तान को सभी घास-फूस समझते हैं।

पुलस्त्य—अपनी सन्तान के मोह में नहीं धर्म, न्याय और सत्य के मोह में मैं यहाँ तक आ गया···सभी ऋषि जानते हैं···भगवान् वशिष्ठ भी जानते हैं···उनके पुत्रों को किसने मारा ?

पराशर—राक्षसों ने नहीं ?

पुलस्त्य—नहीं···चलो अभी पूछ देखो उन भगवान् से···**(आग्रह का स्वर)**

पराशर—तो क्या इसीलिए वे मुझे रोक रहे थे इस यज्ञ से···?

(संदेह की मुद्रा)

पुलस्त्य—ऐं···रोक रहे थे वे ?

पराशर—किस विस्मय में पड़ गये हैं आप ? झूठ नहीं कह रहा हूँ मैं···

पुलस्त्य—तभी···तभी···फिर इस काण्ड में उनका कुछ भी हाथ नहीं है।

पराशर—कुछ भी नहीं···यदि मुझे यज्ञ न करने देंगे तब मैं प्राण

छोड़ दूँगा। मेरे यह कहने पर वे लम्बी साँस लेकर आकाश की ओर देखने लगे।

पुलस्त्य—अपने प्राण के मोह में उन्हें बाँधकर तुम यह दारुण कर्म करने लगे। पर यहाँ नहीं·····उनके·····चरणों में चलकर पूछ विश्वामित्र के अपराध का फल राक्षस जाति के सिर क्यों उतारा गया ?

पराशर—मेरा यह नाम क्यों पड़ा जानते हैं भगवान्···

पुलस्त्य—जानता हूँ वत्स ! अपने सभी पुत्रों के मरने पर···वंश के मिट जाने के अनुताप में वे भगवान् जब प्राण छोड़ने को तत्पर हुए तब तुम्हारी माता ने अपने गर्भ के शिशु की सूचना उन्हें दी···जो तुम हो इसे कौन नहीं जानता···अपने पितामह की प्राण-रक्षा के कारण तुम बने···इसलिए तुम पराशर हो।

पराशर—उनके पुत्रों के वैरियों का जो मैं नाश न करूँ तो फिर मेरे जन्म के इस नाम का फल क्या होगा ?

पुलस्त्य—अभी तुम बालक हो ?

पराशर—पर अन्धकार का नाश कौन करता है बाल सूर्य या तरुणसूर्य ?

पुलस्त्य—तुम्हारी शक्ति में मुझे संदेह नहीं है। अपने तेज से तुम इन्द्र का सिंहासन भी इस कुण्ड में खींच सकते हो···राक्षसों की बात क्या···जिस क्षण तुम्हारी पहली आहुति अग्नि में पड़ी···राक्षसों का प्राण शरीर छोड़कर उड़ गया। भगवान् वशिष्ठ की क्षमा, धर्म में अडिग भाव तुम्हारे रूप में पैदा हुआ वत्स ! विश्वामित्र ने छल से तुम्हारे पिता का वध कराया था।

पराशर—क्या···तब यह आहुति उसके निमित्त···

वशिष्ठ—**(प्रवेश कर)** रुको वत्स ! विश्वामित्र को मैं क्षमा कर चुका हूँ। जिस क्षण रात को वे खड्ग लेकर मेरे आश्रम में घुसे मेरा वध करने के लिए।

पराशर—और आपने क्षमा कर दिया ? आपके मन्त्र में बल न था···

वशिष्ठ—मेरे मन्त्र का बल जगत् के कल्याण के लिए था वत्स ! अपने प्रतिकार के लिए नहीं···

पराशर—और तप का···

वशिष्ठ—उसे भी मैं लोक को दे चुका था···

पराशर—अग्नि और यज्ञ का बल···

वशिष्ठ—लोक-पुरोहित का वह बल भी लोक के लिए है। उसका फल भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में मैं न लगाता।

पराशर—तब राक्षसों पर मेरा क्रोध झूठ था ? **(उद्वेग और विस्मय के भाव)**

पुलस्त्य—हाँ, पूछ लो। देखो महर्षि क्या कहते हैं ?

वशिष्ठ—विश्वामित्र ने जब मेरा पुरोहित का पद छीन लिया···

पराशर—छीन लिया···क्षत्रिय ने···आपने उसका राज्य क्यों नहीं छीन लिया ?

वशिष्ठ—**(खेद की हँसी)** विश्वामित्र के अनाचार का उत्तर मैं भी अनाचार से देता···एक व्यक्ति अपराध करे तो सारा जगत करने लगे ?

पराशर—एक मछली कुण्ड का सारा जल गँदला करती है। व्यक्ति का अपराध समूचे लोक पर छा जाता है···क्या व्यक्ति लोक का अंग नहीं होता ?

वशिष्ठ—उन बातों को खनकर न निकालो। नहीं···नहीं···रुको वत्स !···एक शब्द उसका न पूछो नहीं तो जिस अग्नि को मैं पैरों तले दबाकर खड़ा हूँ वह मेरे तन को जलाकर भस्म कर देगी।

पराशर—पर जब तक जान न लूँ विश्वामित्र ने यह क्यों किया मेरे चित्त को चैन कहाँ मिलेगा ?

वशिष्ठ—मुझे कष्ट होगा वह सब कहने में। आप इसका समाधान कर दें ऋषि। मैं जो वह सब कह पाता तो फिर इसके क्रोध का फल राक्षस सत्र न होता। फिर भी मैंने इसे रोकना चाहा था···हठ करने पर

यह अपने जीवन की होड़ ले रहा है···चुप हो गया मैं···अग्नि और तप की जिस शक्ति को मैं विश्वामित्र के विरुद्ध न ला सका, उसका प्रयोग यह राक्षसों पर करने लगा जो निर्दोष हैं ।

पराशर—(उद्वेग में) निर्दोष हैं राक्षस ! क्या सुन रहा हूँ मैं ? मेरे पिता का वध, उनके सभी भाइयों का वध···भगवान पुलस्त्य भी यही कह रहे थे···आप भी यही कह रहे हैं ।

वशिष्ठ—बस, सत्य के बचा लेने को, पुत्रों और शिष्यों का मोह मुझे छोड़ना पड़ा । मेरे कुल का अन्त हो चुका था जो तुम्हारा जन्म न हुआ होता । विश्वामित्र क्षात्र-बल से ब्रह्म-बल को दबाना चाहते थे । उनके रजोगुण के सामने अपने सतोगुण से बराबर खड़ा रहा । उनके क्रोध के लिए मेरे पास शील था और उनकी हिंसा के लिए क्षमा । क्षत्रिय का संतोष जब राज-शक्ति से नहीं हुआ उसने मेरी पुरोहिती भी छीन ली ।

पराशर—और फिर उसने आपकी सन्तान का नाश किया और आप सब देखते रहे ? उस समय मैं न रहा ।

वशिष्ठ—तुम भी वही करते जो तुम्हारे पिता ने किया । शक्ति ने यज्ञ-लाभ के लिए विश्वामित्र का विरोध किया । लालसा और मृत्यु दोनों साथ चलते है । पर छोड़ो उन बातों को···

पुलस्त्य—भगवान वशिष्ठ अपने मुँह से न कहेंगे । विश्वामित्र ने जब त्रिशकु का यज्ञ पुरोहित बनकर कराया, तुम्हारे पिता ने उनका विरोध किया । अपने अधिकार के लिए खड़े हुए···

पराशर—किस तरह···कैसे ?

पुलस्त्य—उन्होंने ऋषि-मण्डली में विश्वामित्र की निन्दा की और कहा कि अग्नि देवताओं का पुरोहित है और ब्राह्मण मनुष्यों का, विश्वामित्र को उन्होंने अनाचारी कहा ।

पराशर—फिर···

पुलस्त्य—सूर्यवंशी कल्माषपाद को फिर विश्वामित्र ने तुम्हारे पिता

के विरुद्ध उकसाकर वन के सँकरे मार्ग में लड़ा दिया।

वशिष्ठ—मेरा आश्रम वन में था। विश्वामित्र के साथ संघर्ष न ठानकर मैंने यही ठीक समझा कि राज्य और यज्ञ दोनों का लाभ क्षत्रिय ले और ब्राह्मण अपने त्याग मे सुखी हो। मैं अपने शिष्यों को लेकर बीहड़ वन में चला गया पर विश्वामित्र ने मेरा वहाँ रहना भी कठिन कर दिया।

पुलस्त्य—अपनी सेना के साथ जब वह वन में पहुँचे अपने धर्म के अनसार उन्हें अतिथि मानकर आपने उनका आदर-सत्कार किया। आपके आचरण में उस समय भी वैर नहीं था। आपकी एकमात्र गाय भी वे न देख सके।

पराशर—नन्दिनी वाली बात तो मैं माँ से सुन चुका हूँ।

पुलस्त्य—फिर उन्होंने घोर तप किया ब्रह्म-बल लेने के लिए। तप और शस्त्र दोनों का व्यवहार वे करते रहे। कल्माषपाद ने जब आश्रम के पास ही तुम्हारे पिता पर आघात किया तो उन्होंने उसे इस आचरण के लिए राक्षस हो जाने का शाप दिया···और फिर कल्माषपाद की सेना ने तुम्हारे पिता और सभी शिष्यों का वध कर दिया। केवल महर्षि के तेज के निकट वे न आ सके।

पराशर—कल्माषपाद कहाँ है अब···? **(कठोर संकल्प के भाव में)**

पुलस्त्य—भगवान वशिष्ठ ने दया कर उन्हें शाप से मुक्त कर दिया। अब वे राज-ऋषियों के साथ स्वर्ग में हैं। आपके पिता भी अपने भाइयों के साथ वही हैं।

पराशर—विश्वामित्र का द्रोह वहाँ है कि नहीं···?

वशिष्ठ—क्रोध पाप का मूल है। विश्वामित्र जगत के सब से बड़े तपस्वी हैं। ब्रह्मर्षि कहकर मैंने उनका आदर किया है। ब्रह्मदेव ने जिस की तपस्या का बराबर सम्मान किया उनके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं वत्स!

पराशर—ब्रह्मा के वरदान के बाद भी वे आपकी हत्या के लिए

आपके आश्रम में रात को आए थे ?

पुलस्त्य—और जब उन्होंने अपने कान से सुन लिया···देवी अरुन्धती से महर्षि उनके तप का बखान कर रहे थे, उनके भीतर आत्म-ग्लानि जगी और वे तब इन भगवान के चरण में त्राहि त्राहि कर गिर गये थे।

वशिष्ठ—उस समय मुझे पुत्रों का नाश भी भूल गया और उन्हें मैंने ब्रह्मर्षि कहकर छाती से लगाया था।

पराशर—**(लम्बी साँस)** यही काम पहले हो गया होता तो तात इतना संकट कैसे भोगते ?

पुलस्त्य—जब तक विश्वामित्र ब्रह्म-बल की निन्दा करते रहे तब तक यह कैसे होता ?

पराशर—विश्वामित्र आपको भी मारने आये थे ?

वशिष्ठ—यही बात फिर पूछ रहे हो ? जिसके ललाट से तप की लपट निकलती थी, वही विश्वामित्र···जिसने त्रिशकु को सदेह स्वर्ग भेजा···जो नई सृष्टि करने लगा···मुझे शस्त्र लेकर रात को मारने आया। उस समय रात को देवी अरुन्धती विश्वामित्र के वैर की बात पूछ रही थीं।

पराशर—और विश्वामित्र अँधेरे में छिपे थे ?

वशिष्ठ—हाँ···पर···मैं उनकी तपस्या की प्रशंसा कर रहा था···

पराशर—हूँ···तो···पुरोहित का पद लेने के लिए विश्वामित्र ने यह सब किया। पर कल्माषपाद को आपने क्यों क्षमा कर दिया ?

वशिष्ठ—उनका कोई अपराध नहीं था। तुम्हारे पिता को शाप देने के पहले सोच लेना था कि वे क्रोध से क्यों हार रहे हैं ? विश्वामित्र ने अपना कार्य कल्माषपाद से कराया। मेरे पुत्र ने जब क्षत्रिय-सा आचरण किया।

पराशर—तात, तब आप मेरे पूज्य पिता को अपराधी बना रहे हैं ?

वशिष्ठ—नीति की राह में पिता हो या पुत्र···किसी का विचार

नहीं करना है। पुरोहित का अधिकार जब मैंने छोड़ दिया, तब मेरे पुत्र में उसकी लालसा क्यों शेष रही ?

पराशर—हूँ···पर···

वशिष्ठ—क्या···

पराशर—कल्माषपाद और विश्वामित्र के प्रति आपके मन में द्रोह नहीं है।

वशिष्ठ (हँसकर) नहीं···

पराशर—तब यह यज्ञ में व्यर्थ कर रहा था।

वशिष्ठ—हिंसा का उत्तर हिंसा कभी नहीं है···

पराशर—तब मैं अपने कर्म का प्रायश्चित करूंगा। निर्दोष राक्षस जो मेरे यज्ञ में भस्म हुए।

वशिष्ठ—यज्ञ में भस्म होकर वे पवित्र हो गये। राक्षस-योनि से उन्हें मुक्ति मिली।

अदृश्यन्ती—क्या सुन रही हूँ मैं···यज्ञ बन्द हो गया ? **(शोक का स्वर)**

पराशर—हाँ···माता···राक्षस निर्दोष है। मेरे पिता का अन्त विश्वामित्र के कपट से हुआ था।

अदृश्यन्ती—अभी तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था **(साँस रोककर)** वन के मार्ग में वही राक्षस मुझे खाने को दौड़ा था···जिसने तुम्हारे पिता का···उनके ··सभी भाइयों का अन्त किया था।

वशिष्ठ—पर वह राक्षस सूर्यवंशी कल्माषपाद थे जो शक्ति के शाप से उस गति में पहुँचे थे।

अदृश्यन्ती—हाय ! तब मुझे बचाने के लिए कमण्डलु का जल फेंक कर आपने उसे शाप-मुक्त कर स्वर्ग का अधिकारी बनाया। मुझे खा गया होता वह·· मैं न रहती···मेरा पुत्र न रहता पर वह बराबर राक्षस बना रहता। **(दुःख में सिसकने लगती है)**

वशिष्ठ—और तब मेरा वंश डूब जाता···

पराशर—**(बात काटकर)** तब अपना वंश बचाने के लिए उस हत्यारे को मुक्त किया···आपने उस गति से। कल्माषपाद स्वर्ग में··· विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हैं···फिर आपको क्या मिला ? किस फल के लिए आपके पुत्र और शिष्य मारे गये ?

वशिष्ठ—हर प्रलय मे नई सृष्टि का क्रम चलता है। ब्रह्मर्षि पद तक पहुँचने मे विश्वामित्र के दारुण तप को याद करो···एक ही छलाँग में अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच जाने के लोभ मे उनकी तपस्या कितनी बार नष्ट हुई ?

पुलस्त्य—**(हँसकर)** जी···मेनका से तपस्या-काल में ही उन्हें पुत्री हुई और त्रिशंकु तो अभी भी अधर में सिर नीचे कर लटके पड़े हैं···न उन्हे यह धरती मिली न स्वर्ग···**(हँसी)**

वशिष्ठ—क्षत्रिय विश्वामित्र ने यज्ञ की वेदी ग्रहण की थी···ब्रह्मर्षि विश्वामित्र उस वेदी से उतर भी गये।

पराशर— और जिसके लिए आपके सभी पुत्र मारे गये उसे आपने फिर स्वीकार भी कर लिया। यज्ञ और दान का भार आप फिर उठा रहे हैं।

वशिष्ठ—व्यक्ति की आँखों से नहीं···लोक की आँखों से देखो वत्स ! मेरे पुत्रों का अन्त निष्फल नहीं हुआ। अब भविष्य में क्षत्रिय लोक-पुरोहित नहीं बनेगा। यज्ञ और मंत्र का अधिकार अब केवल ब्राह्मण को रहेगा और उस अधिकार में···मेरे पुत्रों के अन्त की कथा भी चलती रहेगी।

अदृश्यन्ती—जिस फल में पिता का रक्त है उसका भोग पुत्र कैसे करेगा ? यज्ञ की हर वेदी पर···दान के हर संकल्प में उस रक्त की गन्ध मिलेगी।

वशिष्ठ—तब ठीक है···मेरे वंश में पुरोहित-कर्म अब न रहेगा··· यज्ञ में दान का ग्रहण हम न करें। इससे संतोष होगा तुम्हें···सोच लो कहीं ऐसा न हो कि आने वाली पीढ़ी हमारे इस त्याग पर खेद करे।

पराशर—वह पीढ़ी नहीं आवेगी···मुझे कोई सन्तान न होगी।

अदृश्यन्ती—हाय! हाय! क्या कह रहे हो बेटा! वश की परम्परा को बचाने के लिए तुम्हारे पितामह ने उस राक्षस को मुक्त कर दिया और तुम्ही उसे मिटा दोगे?

पराशर—हाँ···मां···मै विवाह नहीं करूँगा···न मुझे सन्तान होगी और न उसे कभी भी पुरोहित-वृत्ति का लोभ होगा।

पुलस्त्य—जन्म लेना भी एक प्रकार का ऋण है और उस ऋण को चुकाने के लिए···

वशिष्ठ—जन्म देना होता है। शुद्ध कर्म और आचरण बिना पत्नी के नहीं चल सकता···धर्म की यही रीति है।

पराशर—किसके धर्म की रीति है यह···विश्वामित्र के धर्म की या आपके···

वशिष्ठ—धर्म किसी एक व्यक्ति का नहीं समूचे लोक का होता है।

पराशर—तब विश्वामित्र की हिंसा समूचे लोक की रही।

पुलस्त्य—और भगवान वशिष्ठ की क्षमा भी समूचे लोक की थी। अभी तुम बालक हो। वेद और यज्ञ का अधिकार तुम्हें जन्म से मिला है। पर तुम्हारी इस अवस्था का जो धर्म है तुम उसे उतारकर फेंकने में स्वतन्त्र नही हो।

पराशर—**(मन्द हँसी)** समझ रहा हूँ इस अवस्था का धर्म क्या कहा जायेगा? जिस मार्ग पर सभी चलते हैं उसी पर चलने के लिए विवश किया जाऊँगा मैं। अपने लिए नया मार्ग मै नही बना सकता।

वशिष्ठ—जितने व्यक्ति उतने मार्ग नहीं होंगे। मार्ग वही है जो परम्परा से आया और जिस पर चलना धर्म माना गया।

पुलस्त्य—पिता और गुरु की वाणी में सन्देह नहीं करते। महर्षि वशिष्ठ तुम्हारे पिता के जनक हैं।

पराशर—नहीं करूँगा सन्देह तब मैं भी। पर तपस्या तो कभी

अधर्म नहीं है ?

वशिष्ठ—कभी नहीं।

पराशर—तब मैं तपस्या करूँगा। ऐसी तपस्या जो विश्वामित्र से भी सम्भव न हुई हो। जिस स्थान पर विश्वामित्र की तपस्या चली थी···मैं उसके आगे पहुँचकर मेरु के मूल में तपस्या करूँगा। **(कठोर संकल्प की मुद्रा आँखों में और ललाट पर छा जाती है।)**

वशिष्ठ—**(भय से)** अरे वत्स !

पराशर—तपस्या में बाधक आप न बनेंगे तात ! **(वशिष्ठ, और पुलस्त्य विस्मय में सन्न हो जाते हैं। अदृश्यन्ती हाथों में अपना सिर थाम लेती है।)**

परिवर्तन

वशिष्ठ—जगत का चक्र अपनी गति में चलता है बेटी ! तुम खेद मत करो।

अदृश्यन्ती—पराशर भी आपको छोड़ गया···जिसकी आशा में आपने प्राण नहीं त्यागा ! मेरु के मूल देश में कैसे रहता होगा वह ? **(घोर कष्ट और भय का स्वर)**

वशिष्ठ—विश्वामित्र की तरह कहीं उसकी तपस्या भी न टूटे··· पर दैव की गति कब रुकी है ? हिमालय के सभी तीर्थ पार कर इस समय वह मेरु के उस भाग में है जहाँ दिन और रात का भेद नहीं खुलता···उषा की लाली जहाँ बराबर नाचती रहती है।

अदृश्यन्ती—कोई गया है वहाँ अब तक ?

वशिष्ठ—विश्वामित्र भी वहाँ नहीं गये थे।

अदृश्यन्ती—कोई दूसरा ऋषि ···

वशिष्ठ—कोई नहीं। छाया और प्रकाश के उस इन्द्रजाल में··· जिसे सूर्य की किरणें भी नहीं पार कर सकीं···तुम्हारा पुत्र उसे पार कर गया है।

अदृश्यन्ती—उसका मुंह फिर अब इस जीवन में न देखूंगी ।

वशिष्ठ—दुख करने से कुछ न होगा । उसके मंगल की कामना करो । उसका संकल्प पूरा उतरे । मेरे सौ पुत्र और शिष्य जो न कर सके वह तुम्हारा एक पुत्र करे । अपनी तपस्या के तेज से पराशर हिमवान की ऋषि मण्डली में पूजनीय हो रहा है ।

अदृश्यन्ती—अकेले क्या काम कर लेगा वह ऐसा ?

वशिष्ठ—अकेला सूर्य क्या काम करता है···नित्य देखती हो तुम । अज्ञान का अन्धकार मिटाकर लोक-धर्म को वह नया रूप देगा···नया बल देगा जिसमें गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्णों के कर्म स्थिर होंगे । इसी संकल्प से तो वह उस अगम्य लोक में गया है जहाँ विश्वामित्र भी न टिक सके और उतरकर कौशिकी के तीर पर आ गये ।

अदृश्यन्ती—एक बार पा जाती उसे···हाय रे माता का हृदय··· तीर्थ और ऋषियों के दर्शन को कहकर गया और कहाँ चला गया ?

वशिष्ठ—जहाँ सब जाते हैं वहीं तक तुम्हारा पुत्र भी जाता··· इतने में ही माता बनने का फल तुम पा जातीं ? पराशर पहला मनुष्य है जिसकी गति देवताओं के उस लोक में है । यह अवसर तुम्हारे हर्ष का है देवी ! दुःख का नहीं ।

अदृश्यन्ती—और वह न लौटे ?

वशिष्ठ—तब तुम्हें अपने पुण्य में विश्वास नहीं है । दिखा दूँ तुम्हें इस समय वह कहाँ है ?

अदृश्यन्ती—इतनी दूर से···? (**अवाक् मुद्रा में**)

वशिष्ठ—मेरी शक्ति में संदेह मत करो । इन्द्र को मैंने प्रत्यक्ष देखा था । मैं तुम्हें यहीं से पराशर को दिखा सकता हूँ···अपने मन को वश में कर सको तो कहो ।

अदृश्यन्ती—नहीं डरूँगी मैं···

वशिष्ठ—तुम्हारा मन मेरु के ध्यान में लगे···जहाँ पराशर पहुँच

गया है, देवता जिसे विस्मय से देख रहे हैं, अप्सरायें जिस पर फूल बरसा रही हैं, ऋषि जिसकी वन्दना कर रहे हैं। जिस दृश्य को किसी ने नहीं देखा वह तुम देखने लगो।

अदृश्यन्ती—(**मन्द स्वर जैसे स्वप्न में बोल रही हो**) बेटा··· कहाँ···हो···अब···देखा···इन्द्र-धनुष के रंग का प्रकाश। सब ओर··· नक्षत्र नाच रहे हैं पराशर···रंगीन प्रकाश की लहरों में···और ये सब देव-कन्यायें फूल बरसा रही हैं·· देव-मण्डली विस्मित है···नीचे ऋषि वन्दना कर रहे हैं।

वशिष्ठ—ब्रह्मदेव को देख रही हो···जो तुम्हारे पुत्र के सिर पर हाथ रखकर खड़े हैं

अदृश्यन्ती—(**मन्द ध्वनि**) देख रही हूँ···उनकी देह से दया के भाव सब ओर फैल रहे हैं। पराशर का सिर उनकी छाती पर टिका है।

नेपथ्य में—तुम्हारी तपस्या पूरी हुई, वर माँगो। इतनी थोड़ी अवस्था में वेद और यज्ञ के अधिकारी तुम अकेले हो। तुम्हारा पुत्र वेद का अधिकारी जन्म से होगा। वेदों के विभाग वह करेगा और तुम मनु के धर्मशास्त्र का नया प्रवर्तन करोगे। तुम्हारे धर्मशास्त्र में चारों वर्ण और आश्रम फिर दृढ़ होंगे। अब धरती पर उतरो। सूर्य की कन्या यमुना के द्वीप में तुम्हारे पुत्र का जन्म होगा।

वशिष्ठ—बस देख लिया तुमने···!

अदृश्यन्ती—(**जैसे जागकर**) ऐं ऐं···सपना देखा है भगवान मैंने···

वशिष्ठ—(**हँसकर**) सपना···

अदृश्यन्ती—कहाँ आ गई मैं···वह सब क्या हो गया ? प्रकाश की वे लहरें···साँप की जीभ-सी आकाश में लहराने वाली वे देवियाँ··· नीचे ऋषि-मण्डली···ब्रह्मदेव की पुत्र पर दया और वह वरदान।

वशिष्ठ—ब्रह्मदेव ने कोई वरदान दिया तुम्हारे पुत्र को···

अदृश्यन्ती—(**आनन्द में**) उसे पुत्र होगा जो वेदों के विभाग

करेगा। यमुना के द्वीप में उसका जन्म होगा। पराशर मनु स्मृति का फिर से प्रवर्तन करेगा भगवन ! आपके पुण्य का यह फल है।

वशिष्ठ—माता के पुण्य से पुत्र बली होता है देवी ! मेरा पुण्य मेरे पुत्रों में क्यों नहीं काम आया ? और उसकी पत्नी कौन होगी ?

अदृश्यन्ती—यह तो नहीं कहा ब्रह्मदेव ने। पराशर नीचे उतरने लगा···देवियाँ फूल बरसाती रहीं···देव हँसते रहे···ऋषि हाथ जोड़ कर स्वागत करने लगे···

वशिष्ठ—पराशर का पुत्र वेद के विभाग करेगा। पुत्रों के मरने का दुख मिट गया बेटी !···यह यश भी मेरे वंश का रहेगा।

अदृश्यन्ती—पर पुत्रवधू कौन होगी ? यह तो कहा नहीं उन्होंने···

वशिष्ठ—जिसके भाग्य में वेद का अधिकारी पुत्र हो···

अदृश्यन्ती—वह किसी हीन कुल का हो तब···

वशिष्ठ—तुम्हारे पुत्र के संयोग से उसका कुल बन जाएगा। कन्या का कुल पति का कुल होता है। किसी भी वर्ण की कन्या ब्राह्मण से पुत्र का जन्म दे सकती है।

(सन्नाटा)

(**यमुना के तीर नाव में धीवर कन्या। जल पर पतवार की ध्वनि**)

सत्यवती—प्रणाम भगवान् ! पार चलना है ?

पराशर—हाँ सुन्दरी ! तुम कौन हो ?

सत्यवती—आँचल से झाड़ दूँ···हाँ यहाँ बैठिये ऋषि ! आप कहाँ से आ रहे हैं। आपकी आयु तो अभी थोड़ी है, यहाँ तो लम्बी उजली दाढ़ी वाले ऋषि दिखाई देते हैं (**मन्द हँसी**) आपका मुँह तो तुरत के खिले कमल की भाँति···(**आग्रह से**) हाँ बैठें यहाँ···धन्य हूं मैं आज और यह नाव भी धन्य है। आपके चरणों का लाभ इसे मिला

पराशर—बैठो सुन्दरी यहाँ···नाव के लाभ से ही सन्तोष कर रही हो ?

सत्यवती—मैं धीवर-कन्या हूँ· इस घाट नाव कभी-कभी खे लेती

हूँ। आप कहाँ से आ रहे हैं ? (**लज्जा और संकोच में उन्हें सिर फिरा कर बार-बार देख रही है**)

पराशर—तीर्थ से·····हिमालय के भीतर जितने तीर्थ है।

सत्यवती—ओ···हो···। इतनी थोड़ी आयु में आप वहाँ गए थे जहाँ उजली दाढ़ी वाले ऋषि जाने से डरते है।

पराशर—यहाँ आओ और निकट···(**हाथ से अपने निकट बैठने का संकेत करते हैं**)

सत्यवती—यह क्या देवता !···मै धीवर-कन्या हूँ, आप ब्राह्मण है।

पराशर—तुरत का खिला कमल तुम्हारे भाग्य में है सुन्दरी ! तुम्हें देख कर मेरा चित्त इतना चंचल हो गया···किसी दूसरी तरुणी की ओर जो आँखें कभी नहीं उठीं···अप्सराओं की ओर भी नहीं वे ही तुम्हारे रूप के जाल में फँस गई हैं। इस आचरण का कारण दैवी है सुन्दरी !···नही तो मेरा मन तुम में अनुरक्त न होता।

सत्यवती—दोनों किनारे ऋषियों के आश्रम हैं अभी दिन का प्रकाश है···कितनी निन्दा होगी ऋषि मेरी···(**अनुराग से देखकर सिर नीचे कर लेती है**)

पराशर—तुम्हारा पुत्र जन्म से वेद का अधिकारी होगा। उसके कारण जब तक यह पृथ्वी रहेगी तुम्हारा नाम चलेगा और मुझे देखकर तुम्हारे मन की जो दशा हुई क्या वह मुझ से छिपी रही बाले !

सत्यवती—मेरे मन के विकार को भूल जायें महर्षि···

पराशर—मन का विकार तुम्हारा सात्विक था। मुझे एक पुत्र का वरदान ब्रह्मा दे चुके हैं ऐसे पुत्र का जो वेद के विभाग करेगा जिसे जन्म देकर तुम संसार की माताओं में धन्य बनोगी।

सत्यवती—मेरी देह से मन्द गन्ध निकलती है···

पराशर—मेरे प्रभाव से अब तुम्हारी देह से कमल की गन्ध निकल कर एक योजन तक फैलेगी। तुम्हारा यौवन अक्षय रहेगा और तुम्हारी चाह राजर्षि भी करेंगे। लोक के लिए तुम्हें एक पुत्र देना है···फिर मैं

स्त्री की कामना न करूँगा ।

सत्यवती—अभी दिन है, कोई देख लेगा ।

पराशर—अब देखो···दिन है · दिन देख पड़ता है आकाश में ··

सत्यवती—ऐं···क्या हो गया · सब ओर यह कुहरा सा अन्धकार कैसा···?···(**विस्मय और अनुराग के भाव**)

पराशर—मेरी तपस्या और ब्रह्मदेव का वरदान सुन्दरी !···जिसके प्रभाव से सूर्य भी ·

सत्यवती—आप माया जानते हैं···

पराशर—तपस्वी के वश में माया रहती है सुन्दरी···और फिर तुम जिस पुत्र को जन्म दोगी वह मनुष्यों में सूर्य होगा । उस फल के लिए तुम सब डर छोड़ दो ।

सत्यवती—मैं अभी कुमारी हूँ···पिता के वश में हूँ । हे पाप-रहित ! आपके समागम से मेरा कन्या-भाव नष्ट हो जाएगा । कन्या-भाव नष्ट कर फिर उस घर में मैं कैसे जाऊँगी । आप ब्राह्मण हैं, विद्वान हैं, तपस्वी भी हैं, आप ही कहें मेरा धर्म क्या है ?

पराशर—दैव की इच्छा से तुम्हें मेरा ब्रह्म तेज धारण करना पड़ रहा है सुन्दरी !·· जिससे तुम उस पुत्र की माता बनोगी । जो अवसर कभी किसी धीवर-कन्या को न मिलता वह तुम्हें मिल रहा है । मेरी बात का विश्वास कर इस अवसर का लाभ लो सुन्दरी ! मैं कह चुका हूँ इसके बाद तुम्हारी कामना राजर्षि करेंगे··· तुम राजरानी बनोगी ।

सत्यवती—आप पर मेरा मन रीझा क्यों ? (**ललाट पर हाथ रख कर**) यहाँ यही लिखा था ।

पराशर—मेरी ओर देखने का साहस कोई देव-कन्या नहीं करती और तुम मुझ से इतनी निर्भय बन गई जैसे पूर्व-जन्म से मुझ से परिचित हो ।

सत्यवती—आपके पुण्य में मैं भाग लूँगी तब···(**आग्रह की मुद्रा**)

पराशर—मेरे पुत्र की माता बनोगी तुम···इससे बड़ा पुण्य और क्या लोगी ? यह भी जान लो कि मैं फिर किसी अप्सरा की ओर भी नहीं देखूँगा। दूसरी किसी नारी की क्या बात ! तुम्हारा पुत्र वेद का ज्ञान ले कर पैदा होगा । तुम जिस समय जब स्मरण करोगी वह तुम्हारी सहायता को आ जायेगा।

सत्यवती—पर उसका जन्म कहाँ होगा ? आप तो मुझे छोड़ कर चले जायेंगे ।

पराशर—मेरा समागम तुम्हारे साथ केवल एक पुत्र के लिए है। वह तुम्हें सदैव मिलता रहेगा···पर मुझे तुम फिर कभी न देखोगी। तुम्हारे भाग्य में रानी बनना है और मेरे पुत्र की माता···।

सत्यवती—आपका धर्म इतना कठोर है···

पराशर—मुझ तपस्वी से तुम्हें वह वैभव न मिलता जो राज-भवन में मिलेगा···और फिर पुत्र ब्रह्मदेव का दान है·· पत्नी मुझे न चाहिए। पितामह वशिष्ठ और माता अदृश्यन्ती के सामने मैं विवाह न करने का व्रत ले चुका हूँ ।

सत्यवती—सब ऋषि विवाह करते हैं और आप ऐसा रूप और तेज लेकर ऐसे ही रहेंगे ना···ना···यह क्या ! किसी को तो इस लाभ का अवसर आप दें···

पराशर—वही तो तुम्हें दे रहा हूँ···एक बार···इस जीवन में फिर नहीं ।

सत्यवती—तब मैं अपनी हीन काया आपको सौंप रही हूँ···अब मेरे भाग्य में जो हो···पर आपका पुत्र कहाँ जन्म लेगा ? उसका भरण-पोषण कहाँ होगा ?

पराशर—यह सामने जो द्वीप है, देख रही हो ?

सत्यवती—इसी में खेल कर इतनी बड़ी हुई हूँ ।

पराशर—काँस के उस झुरमुट में तुम्हारा पुत्र जन्म लेगा । द्वीप

में जन्म लेने से वह द्वैपायन होगा ।

परिवर्तन

(वन के निकट नदी के बहने की ध्वनि । आँधी चल रही है । पेड़ों की डालों का हहरा उठना सुनाई पड़ता है)

पराशर—कहाँ गया कृष्ण···ऐं ! यहीं तो था । इस आँधी मे कहाँ निकल गया ? ठीक कहते हैं लोग बच्चे का पालन माँ कर सकती है··· पिता नहीं···देखूँ नदी-तट पर तो नहीं है ? डालें टूट रही हैं, कहीं दब न जाय ।

एक स्वर—किसे खोज रहे है महर्षि ? कहें क्या बात है···किस चिन्ता में हैं आप···

पराशर—कौन ? हयकर्ण ! कहो सौम्य, तुमने कहीं कृष्ण को देखा है ?

हयकर्ण—देखा था देव ! वहाँ नदी-तट पर वह धीवर-कन्या जो कभी-कभी नाव चलाती है···उनको लेकर नाव पर बैठी थी ।

पराशर—धीवर-कन्या ? **(सोचने की मुद्रा में)**

हयकर्ण—जी···मुझे तीन बार इस पार कर चुकी है । मैं उसे पहचानता हूँ···जिसकी देह से कमल की गन्ध निकलती है···जिसे लोग योजन-गन्धा कहते हैं ।

पराशर—उसकी नाव पर कृष्ण है ?

हयकर्ण—जी···उनके साथ वह जैसे सब कुछ भूल कर खेल रही है···कभी हँसती है···कभी रोने लगती है···मैंने उससे कहा—क्यों ऋषि बालक को बिगाड़ रही है ? हीन कुल की युवती का संसर्ग बालक के लिए भी बुरा है ।

पराशर—तुम उसे लेते नहीं आये ?···छोड़ दिया उस नाव पर इस अन्धड़ में ?

हयकर्ण—लाख कहा वह आने दे तब न । और द्वैपायन भी उसे छोड़ना नहीं चाहते···मुझे तो विस्मय है ।

पराशर—कैसा विस्मय ? **(सचेत होकर)** ।

हयकर्ण—कहीं उसी ने तो उन्हें द्वीप में जन्म देकर छोड़ नहीं दिया । दूसरे के पुत्र पर कब कौन स्त्री इतना प्रेम करती है ? उसमें क्या ऐसा रहस्य है···जो कृष्ण को बाँध रहा है ।

पराशर—यह संसार क्या रहस्य नहीं है सौम्य ! तुम अभी लौट जाओ और उसे ले आओ ।

हयकर्ण—जो आज्ञा देव !

पराशर—लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म में जो यह भेद न होता तो सत्यवती अपने पुत्र के प्रेम से इतनी दूर न रहती । माता बनना भी पाप है ? नहीं ! फिर प्रकृति के सबसे बड़े धर्म पालन के नियम निश्चित करने होंगे । राजर्षि शान्तनु प्रिया के विरह में घुल रहे हैं । सत्यवती को एक बार देख कर वे उसे अवश्य स्वीकार करेंगे ।

कृष्ण—तुमने उस बेचारी को रुलाया है ।···क्या मुझे लेकर वह कहीं भाग जाती कि तुमने उसे इतना बुरा कहा ? **(क्रोध में काँपता स्वर)**

हयकर्ण—उस धीवर-कन्या की गोद में तुम्हें बैठना चाहिए ?

कृष्ण—क्यों नहीं···वह मनुष्य नहीं है ?

पराशर—कहां गये थे कृष्ण ! तुम अब जाओ हयकर्ण, छोड़ दो इसे । अब कहो कहाँ गये थे ?

(हयकर्ण का प्रस्थान)

कृष्ण—नदी-तट पर···मेरी माँ कौन है तात !

पराशर—कुछ कहा उसने···

कृष्ण—किसने···

पराशर—नाव पर जिसके साथ खेल रहे थे···**(साँस रोककर)**

कृष्ण—कहा आपसे पूछने को मेरी माँ कौन है···

पराशर—हूँ···और कुछ···

कृष्ण—और तो कुछ नहीं···मुझे पकड़ कर कभी हँसती···कभी रोती थी···जिस दिन वह नाव ले कर यहाँ आती है और मुझे याद

करती है···मैं अजाने नदी की ओर भाग पड़ता हूँ। कहती थी वह जब मुझे याद करेगी मैं कहीं भी रहूँगा, उसके पास अवश्य चला जाऊँगा। क्यों ऐसा होता है तात ! उसके याद करते ही मेरे मन में क्या होने लगता है···कि मैं उसके पास खिच जाता हूँ।

पराशर—वह तुम्हारी माता है। गाय का बछड़ा माँ के पास जाते तुमने देखा है और मृगी का भी···

कृष्ण—हाँ··· **(विस्मय में अधीर मुद्रा)**

पराशर—वही बात यहाँ भी है। माता जब प्रेम में पुत्र को याद करती है तो वह उसकी ओर खिच जाता है।

कृष्ण—तात ! मैं माँ को यहीं ले आऊँगा।

पराशर—यह नहीं होगा पुत्र ! तुम्हारी माँ राजर्षि शान्तनु की पत्नी बनेगी। तुम्हारी माता वे बराबर बनी रहेंगी, पर मेरी पत्नी नहीं। चलो भीतर, मैं तुम्हें सब बताऊँगा। वेद का अधिकार तुम्हें जन्म से मिला है।

कृष्ण—वेद के अधिकार के लिए माँ का प्रेम छोड़ना होगा तात ! और वे जब मुझे स्मरण करेंगी ?

पराशर—उस समय उनकी सेवा में तुम जाओगे। यह वरदान मैंने उन्हें दिया है। तुम्हारा जन्म न मेरे लिए हुआ है न उनके लिए। वेद के अकेले अधिकारी होने के लिए तुम्हें पिता और माता का लोभ छोड़ना होगा। ब्राह्मण का संयोग हीन कन्या से अब न होगा पुत्र ! यह अन्तिम है।

कृष्ण—और बारह अध्याय के अपने धर्मशास्त्र में आपने इसकी चर्चा की है।

पराशर—हाँ···कलि में वेद और विद्या, वर्ण और आश्रम के विधान मेरी संहिता में आ गये हैं। आज उसे ऋषि-मण्डली में सुनाऊँगा। तुम भी सुनोगे। तुम्हारी शंका तब निकल जाएगी।

(दोनों परस्पर देखते रहते हैं)

याज्ञवल्क्य

[उपनिषद् परम्परा के प्रसिद्ध ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य
के जीवन पर आधारित नाटक]

पात्र-सूची

याज्ञवल्क्य—शुक्ल यजुर्वेद के प्रवर्तक और ब्रह्मविद्या के ज्ञाता
वैशम्पायन—अपने युग के प्रधान आचार्य, याज्ञवल्क्य के पहले गुरु
जनक – विदेहजन के राजा ब्रह्मवादी
मैत्रेयी—वैशम्पायन की पुत्री
गार्गी—ब्रह्मवादिनी
समाश्रवा—याज्ञवल्क्य का शिष्य
तथा जनक विदेह की सभा के अन्य विद्वान

पहला दृश्य

[तपोवन में आचार्यकुल । यज्ञ में स्वाहा की ध्वनि । वेद मंत्र और स्वस्ति पाठ]

वैशम्पायन—वाजसनेय ! (**क्रोध के स्वर में**)

याज्ञवल्क्य—(**सरल गम्भीर स्वर में**) कहें आचार्य ! (**मंद हँसी**)

वैश०—ऐसा उग्र अहँकार ! (**ऊँची साँस**)

याज्ञ०—जीव मात्र का धर्म अहँकार है । जिस मन में, बुद्धि में अहँकार नहीं उस जीवित से अच्छा है मृतक ।

वैश०—फिर तो कहो क्या कहा तुमने अभी ? तुम अकेले इन सभी शिष्यों में समर्थ हो ?

यज्ञ०—जी···हाँ···मै अकेले आपके हित में ब्रह्महत्या निवारण का महाव्रत करूँगा । इन निस्तेज ब्राह्मण कुमारों को कष्ट देने का काम नहीं ।

वैश०—पर मेरे लिए सभी शिष्य समान हैं, तुम भी ये सब भी । इन सब का गुरु मै हूँ । ऋषियों की मंडली में जो मै महामेरु पर उपस्थित नहीं हुआ उसी का फल इतना दारुण ·····(**दुःख की साँस और मुद्रा**)

याज्ञ०—जो इस मंडली में सम्मिलित न होगा उसे रात दिन के भीतर ब्रह्म हत्या लगेगी, इस शपथ की घोषणा इस आचार्यकुल में भी हुई थी ।

वैश०—मुझसे प्रमाद हो गया । मुझे क्या पता था मेरा अपना ही भागिनेय मेरे ही पैरों से कुचल कर मर जायेगा । वह शपथ वज्र बनकर मेरे सिर पर पड़ी ।

याज्ञ०—जो बीत गया उसकी चिन्ता नहीं देव ! मै समर्थ हूँ अकेले उस महाव्रत के लिए जिससे आप इस पातक से छूट जायेंगे ।

वैश०—तुम अकेले समर्थ हो ? तुम्हारी इस शक्ति से मेरी इस पूरी शिष्य मंडली का अपमान नहीं हो रहा है ? अभी समय है सोच

लो। फिर कुछ पछताने को न रहे।

याज्ञ०—आकाश में जब सूर्य का उदय होता है, नक्षत्रों का अपमान होता है आचार्य ?

कई स्वर—हैं···हैं··· **(क्रोध से हाथ उठाकर रोकते हुए)**

वैश०—चुप रहो तुम लोग ! हाँ तो तुम सूर्य हो और ये सभी शिष्य नक्षत्र हैं ?

याज्ञ०—ब्रह्मचर्य की निष्ठा और आचार्य-कुल के कठोर संयम से मुझे जो यह शरीर मिला है किसी दूसरे को मिला ? दृढ़ शरीर के साथ दृढ़ मेधा की बात क्या आप नहीं मानते ?

वैश०—मेरे अन्तेवासी इन सभी ब्राह्मण कुमारों को निस्तेज कह कर···अपने को सूर्य और इन्हें नक्षत्र बनाकर · तुमने इनका घोर अपमान किया है। तेरे जैसे उद्धत शिष्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। **(क्रोध में काँपता स्वर)**

याज्ञ०—गुरु के प्रति अपने कर्त्तव्य और अपनी शक्ति के आग्रह में मैं यह कह गया देव ! अपने व्रत की शक्ति से मैं आपके पौतक का हरण करूँ···यह इच्छा मेरे लिए स्वाभाविक है। **(गंभीर अडिग मुद्रा)**

वैश०—पर उसमें यह अहंकार जो आ गया ?

याज्ञ०—अभी···इस बीस वर्ष की आयु में मैं अहंकार हीन हो जाऊँ तो फिर शतजीवी किस बल से बनूंगा ? इस अवस्था का धर्म जो कठोर संकल्प नहीं···जो कोई न कर सके वह करने की कामना नहीं···तो फिर दबा दबा जीवन का फल क्या होगा ? अहंकार में नहीं उत्साह में कहा था मैंने। इस संकट में गुरु के काम आ जाऊँ मैं अकेले।

वैश०—फिर भी···अपने इन सभी शिष्यों का अपमान मैं नहीं सह सकता।

याज्ञ०—फिर इनमें आचार्य किसी एक शिष्य का वरण इस महाव्रत के लिये करें···मेरा या इनमें कोई···जिसमें व्रत साधन की शक्ति हो··· जो मैं अकेले करने में समर्थ हूँ वह···

वैश०—क्या···हाँ कहो···(**ऊँची साँस**)

याज्ञ०—वह अकेले करूँगा मैं व्रत । प्रायश्चित दल बाँध कर नहीं होता ।

वैश०—तब कहो कि यजुर्वेद विधान में तुम्हें विश्वास नहीं है··· इसीलिए निष्ठा से गुरूवचन न सुनकर तुम तर्क करने लगते हो···मेरे इतने अन्तेवासी हैं···इन सब में सन्देह और भेद की बुद्धि तुम्हीं पैदा करते हो, पिछले वर्ष भर से तुम्हारा यह क्रम मैं देख रहा हूँ ।

याज्ञ०—जी जब से ब्रह्मवादी मैं बनने लगा हूँ जिसका आप विरोध करते हैं ।

वैश०—ब्राह्मण यज्ञवादी होता है प्रियदर्शन ! ब्रह्मवादी नहीं ।

याज्ञ०—ज्ञान की गति रोकने में विश्वास नहीं करता मैं देव ! यज्ञ शरीर है ब्रह्म आत्मा है ।

वैश०—और तुम्हारे इस ब्रह्म का आचार्य क्षत्रिय राजा है··· प्रवाहण···अश्वपति···

याज्ञ०—अजातशत्रु और जनक भी कह लीजिए। ज्ञान की भी जाति होगी ? ब्राह्मण ज्ञान, क्षत्रिय ज्ञान इन भेदों में मुझे नहीं पड़ना है । इस काल का यह नया ज्ञान है···यजर्वेद में नये विषय आप भी रखने लगे है पर आर्य विधि में मिश्रण न कर नये ज्ञान को मान लेना ही ठीक है ।

वैश०—गुरु में जब निष्ठा नहीं मैं तुम्हें वान्त करता हूँ···आज ही इसी घड़ी से तुम मेरे अन्तेवासी नहीं हो ।

याज्ञ०—एवमस्तु···(**हंस कर**) देखें आचार्य ! यह ऊपर आकाश में ज्ञान और विद्या के अधिष्ठाता भगवान आदित्य को···

वैश०—(**क्रोध में**) हाँ···तो···

याज्ञ०—मैं अब इन्हीं को अपना गुरु बनाऊँगा । इनके तेज की प्रतिष्ठा मैं अपने आत्मलोक में करूँगा और तब मैं शुक्ल यजुर्वेद का प्रवर्तन करूँगा । आर्य विद्या में सुविधा के लिये आप जो नये नये आधुनिक मेल मिलाते हैं उनकी···

वैश०—क्या कह रहा है उद्धत वाचाल ? मैंने यजुर्वेद में नई विधि भरी ? तुझे शाप दूँ तब मैं···

याज्ञ०—अन्तेवासी के आचरण से आप अब मुझे मुक्त कर चुके हैं···अब मैं आपका शिष्य नहीं हूँ···फिर शाप का अधिकार अब कहाँ है आपको ?

वैश०—और मेरी पढ़ाई विद्या···**(व्यंग की हँसी)**

याज्ञ०—उसका मैं अभी त्याग करता हूँ···आपके कृष्ण यजुर्वेद का···मैं आपकी सारी पद्धति अभी उगल देता हूँ···जिन शिष्यों के अपमान के कारण आपने मुझे वान्त किया···वे मुझसे वान्त की गई इस सारी विद्या को तीतर की तरह चुन लें।

वैश०—मेरा यजुर्वेद कृष्ण है और मेरे शिष्य तीतर हैं।

याज्ञ०—मुझसे वान्त विद्या का जो ये ग्रहण करेंगे उनका नाम होगा तैत्तरीय और अब आप देखें जिस गति से अकेले आपकी विद्या का त्याग मैं करता हूँ उस गति से आपके शिष्य उसका ग्रहण भी कर लेते हैं या नहीं ?

वैश०—वाजसनेय ! मेरी यजुर्वेदी पद्धति कृष्ण और मेरी विद्या तैत्तरीय···फिर भी कोई बात नहीं···तुम्हारी वान्त विद्या का ग्रहण मेरे शिष्य करेंगे। सन्ध्या तक मेरी पढ़ाई विद्या का पारायण जो तुम करो मेरे शिष्यों को करा दो तो मैं तुम्हारे अहंकार की विजय का आशीर्वाद दूँगा।

याज्ञ०—जय हो देव। मुझे स्वीकार है···पर···

वैश०—क्या ?

याज्ञ०—गुरुद्रोह का दोष मुझे न लगे। आप जिसे अहंकार कहते हैं, वही मेरी निष्ठा है।

वैश—एवमस्तु···

याज्ञ०—भगवान भुवन भास्कर मेरी निष्ठा के आप साक्षी हों। आपके तेज के अनुरूप मैं शुक्ल यजुर्वेद का प्रवर्त्तन करूँ। वाजसनेय आज से लोक-नायक आदित्य का शिष्य है।

मैत्रयी—(**प्रवेश कर**) लोक-पुरोहित का पद तुम्हें मिले प्रिय दर्शन ! तुम्हारे चले जाने से तात का आचार्यकुल सूना हो जाएगा जैसे सूर्य के चले जाने से प्रकृति सूनी हो जाती है।

वैश०—यहाँ बराबर शिष्य आते रहेंगे । मेधावी और अहंकारी भी। किसी का स्थान कभी यहाँ सूना न रहेगा।

मैत्रेयी—हाँ तात ! रात को जैसे बरावर तारे रहते हैं···अनेक असंख्य तारे । अमावस्या को छोड़ कर चन्द्रमा भी बराबर रहता है केवल सूर्य नहीं रहता।

वैश०—हूँ·· तब तो वाजसनेय के चले जाने से यह सब सूना हो जायेगा । यहाँ अब दिन कभी नहीं होगा। इस अहंकारी अन्तेवासी के लिए तुम्हारे ऐसे भाव क्यों हैं नन्दिनी !

मैत्रेयी—आपने ही कहा था तात ! मुझे उनके साथ मित्र भाव से रहने के लिए। यह मुझे मैत्रेयी कहते हैं।

वैश०—वाजसनेय ! (**आग्रह में स्वर मधुर कर**)

याज्ञ०—कहें देव !

वैश०—छोड़ दोगे अब भी हठ और इन सब शिष्यों के साथ अब भी व्रत करोगे ?

याज्ञ०—जी नहीं···मुझे करना होगा तो अकेले मैं व्रत करूँगा·· नहीं तो आपके ये सभी शिष्य एक साथ करें।

मैत्रेयी—भद्र ! मेरे कहने से···जिसका नाम अपने अनुरूप तुम बदल चुके हो। कुछ मेरा अधिकार भी···

याज्ञ०—किसी के कहने से नहीं प्रियदर्शिनी ! हिमालय हिलेगा मैं नहीं। आचार्य के अन्तेवासी सब समान हैं पर आकाश के सब ग्रह समान नहीं हैं। आचार्य से दूर होकर अब मैं आत्मरूप सूर्य का शिष्य हूँ।

मैत्रेयी—तात ! आदेश हो तो दो शब्द मैं कह लूँ।

वैश०—इस पर ब्रह्म का रहस्य छा रहा है। तुम नहीं जानती।

याज्ञ०—शरीर तभी तक है तात ! जब तक प्राण है। ब्रह्म प्राण

और यज्ञ शरीर

वैश०—तुम अपने उस नये यजुर्वेद की बात कह रहे हो सौम्य ··

याज्ञ०—किसे आप नया कहेंगे और किसे पुराना ? तत्वदर्शन में नया और पुराना कहाँ है तात ! जो है सब सनातन है सनातन ·

मैत्रेयी—मेरी बात सुनो भद्र ··

याज्ञ०—आचार्य की अवहेलना कर कैसी मैत्रेयी हो तुम ?

मैत्रेयी—तुम्हारा ब्रह्म अजाना है, मेरे मित्रभाव को तुम भली-भाँति जानते हो ।

वैश०—ब्रह्म के सम्मोहन में अब यह मेरे वश के बाहर है । तुम्हारा वश चलेगा इस पर कौन जाने । जो कुछ करना हो वाजसनेय ! बुद्धि से सोच कर···

(**वैशम्पायन का प्रस्थान**)

याज्ञ०—संध्या तक यह आचार्यकुल मैं छोड़ दूँगा ।

मैत्रेयी—पर (**उत्सुक दृष्टि**) तात ठीक तो कह गये बुद्धि से सोचकर···

याज्ञ०—वेद और ब्रह्म किसी एक जाति के नहीं सबके हैं । तुम ऐसी खिन्न क्यों हो रही हो ?

मैत्रेयी—तुम चले जाओगे ? (**भरे कण्ठ से**)

याज्ञ०—जिस मन में अहंकार नहीं है···जो दूसरों के पैरों चलता है और दूसरों की वाणी में बोलता है·····उसे क्या कहोगी तुम जीवित ?

मैत्रेयी—नहीं मृत··· (**गहरी साँस लेकर**)

याज्ञ०—फिर···मैं जीवित हूँ । यजुर्वेद की इस कृष्ण पद्धति को मैं शुक्ल करूंगा । नदी की धारा देखती हो तुम ·

मैत्रेयी—हाँ···पर···

याज्ञ०—धारा बाँधने की नहीं स्वतन्त्र करने की है । वेद और विद्या की धारा आचार्य बांध रहे हैं···उसे मुक्त करना है मुझे । (**उसके कन्धे पर हाथ रखकर मन्द हँसी**)

मैत्रेयी—तब तुम अपना कुल बसाओगे···ऋषि और आचार्य बनोगे इसी आयु में···। **(स्वर भारी हो उठता है)**

याज्ञ०—हाँ···सोच रहा हूँ···देख रही हो· सूर्यदेव वही हैं जो नित्य रहते हैं या जैसे कल थे उससे आज इनकी आयु अधिक हो गई है ?

मैत्रेयी—और मैं···

(भरे कण्ठ से । रह रहकर उसकी देह काँप रही है)

याज्ञ०—किसी दूसरे अन्तेवासी से मैत्री करना···

मैत्रेयी—मन से, वचन से, बुद्धि से परे क्या होता है जी ?

याज्ञ०—ब्रह्म

मैत्रेयी—जो यहाँ बोलता है वह क्या है ?

(अपने हृदय पर हाथ रखती है)

याज्ञ०—हृदय में हाँ ब्रह्म

मैत्रेयी—तब कहो कि यह ब्रह्म तभी तक है जब तक यौवन है··· अनुराग है · तुम जिसे ब्रह्म कहते हो उसे मैं अनुराग कहूँ तब

याज्ञ०—कह सकती हो ।

मैत्रेयी—तब मै साथ चलूँगी ।

(उनकी दाईं बाँह पकड़ कर एकटक उनकी आँखों में देखती रहती है)

याज्ञ०—ना···ना·· क्या कर रही हो ? आचार्य यह कभी न होने देंगे ?

मैत्रेयी—तुम्हारे ब्रह्म को न रोक सके वे मेरे अनुराग को रोक देंगे ?

याज्ञ०—ऐं ··तो तुम्हारा अनुराग मुझ पर है जो गुरू का विरोध कर जगत के विरोध का पात्र बनेगा···जिसकी सब कहीं उपेक्षा होगी ··जिसके नाम से लोगों के कान खड़े होंगे ? गुरू के वान्त शिष्य को अग्नि परीक्षा देनी होती है प्रियदर्शिनी !

मैत्रेयी—जानती हूँ···देख भी चुकी हूँ पर ··

याज्ञ०—पर क्या···

मैत्रेयी—मैं विवश हूँ···तुमसे दूर अब मैं न रह सकूँगी । तीन वर्ष बराबर साथ रही·· तुम्हारी नींद सोती जागती रही । ब्रह्म के ऊपर से न उतारकर धरती से उठाओ ।

याज्ञ०—गुरुद्रोही बनाओगी मुझे···यह अपवाद चलेगा मेरे साथ

मैत्रेयी—तात से कह कर···उनका आशीर्वाद लेकर उनके विरोध में नहीं ।

याज्ञ०—अपने उद्भट शिष्य को यह अवसर वे न देंगे ।

मैत्रेयी—देंगे ··ऋषि पुत्री सदैव मेधावी शिष्य की रही है ।

याज्ञ०—और राजर्षि की भी···किसी राजर्षि की खोज करेंगे वे तुम्हारे लिये ।

मैत्रेयी—चुप···सुनो···क्या कह रहा है वह···

(दूर की ध्वनि सुनाई पड़ती है)

याज्ञ०—चलें वहीं···मेरे पथ की बाधा नहीं बनना है तुम्हें स्मरण रहे···

मैत्रेयी—इन तीन वर्षों की सारी बातों को मिटा सकोगे·· हो सके तो करो । अरूप, अनाम, बिना गन्ध, स्पर्श और गुण की जो तुम मुझे बना सको तो बना दो । उस अजाने की बात मुझ से न कहो·· तुम मेरे जाने हो ।

(सामने किसी आगन्तुक की ओर देखकर)

याज्ञ०—क्या कह रहे थे अभी तुम···विदेह जन में क्या हो रहा है ?

वैश०—**(प्रवेश कर)** विदेह जनक ब्रह्मवादियों की सभा बुला रहे हैं···यहाँ अकेले तुम हो ब्रह्मवादी···

याज्ञ०—तब मैं जाऊँगा वहाँ···

मैत्रेयी—तात ! मुझे भी जाने का आदेश दें ।

वैश०—मेरी पुत्री को मेरे विरोध में खड़ी कर रहे हो तुम ।

याज्ञ०—जी नहीं ··

वैश०—तब कैसे वह कह रही है जाने के लिए···?

याज्ञ० —आपकी विद्या को छोड़ कर अब किसी दूसरी कामना का भार मुझे नहीं ढोना है । किस दिन सभा है वहाँ···

वैश०—अगली पूर्णिमा को ··

याज्ञ० —फिर आपकी विद्या से मुक्त होना है मुझे पहले । तीन वर्षों की बताई आपकी सारी विधि मैं तीन घड़ी में आपके शिष्यों को सुनाकर सीधे विदेह जनपद का मार्ग लूँगा **(एक ओर निकल जाता है)**

वैश० —क्या बात है ? निर्भय कहो । इस अहंकारी उद्धत के समक्ष तुम··· **(मैत्रेयी की ओर देखते हुए)**

मैत्रेयी—किस तेजस्वी में अहंकार नहीं होता···और मुझे सब से अधिक प्रिय उनका अहंकार है·· आपके लिए जो उनका दुर्गुण है मेरे लिए वही गुण हो गया है ।

वैश० —तब जाओ तुम भी···पर फिर यहाँ लौटना नहीं···

मैत्रेयी—नहीं लौटूँगी तात !

परिवर्तन

जनक—कुरू और पांचाल के इतने ब्रह्मवादी मेरी परिषद में आये···इस पुण्य से मैं धन्य हूँ भगवान् !

याज्ञ०—सेना और शस्त्र से नहीं, विद्या और ज्ञान की सेवा से आपने यह दिग्विजय की है । ब्रह्मवादी एक साथ इतने किसी भी सभा में नहीं गये थे । आने वाले युग में लोग अश्वमेध भूल जायेंगे पर यह सभा न भूलेंगे ।

जनक—आपके तेज और वाणी के प्रताप से मैं विस्मित हूँ । मेरा विश्वास है इस युग के आप सब से बड़े ब्रह्मवादी हैं ।

याज्ञ०—राम···राम···ऐसा न कहें···मैं गुरू का वान्त··· उपेक्षा का पात्र हूँ । यहाँ कितने एक-से-एक बड़े ऋषि आए हैं ।

जनक—मैं सोच रहा हूँ· ·

याज्ञ०—क्या

जनक—आपके इस देव शरीर को देख कर आँखें नहीं अघातीं आपके शब्द कान में गूँज कर हृदय में गूँजने लगते हैं । जो तेज, बल इस युग के किसी राजा या राजकुमार में नहीं है, वह आप में कहाँ से आ गया ?

याज्ञ०—**(हँस कर)** यही तो गुरुदेव सहन न कर सके और मुझे अहकारी और उद्धत कहकर वान्त कर दिया ।

जनक—सुन चुका हूँ सब···समवेत ऋषि मंडली में यहाँ इसी की चर्चा है, आपसे पूछना सभी चाहते हैं पर साहस किसी को नहीं होता ।

याज्ञ०—मुझ वान्त से···

जनक—जिसने फिर किसी मनुष्य को गुरु न बनाकर सूर्य को गु बनाया और उससे भी बड़ा विस्मय

याज्ञ०—उससे भी बड़ा क्या···? **(उत्सुक मुद्रा)**

जनक—गुरु पुत्री आपके साथ चली आयी ।

याज्ञ०—जी उनके हृदय में ब्रह्म नहीं अनुराग बोलता है । वान्त शिष्य के साथ वान्त पुत्री भी···

जनक—पर जितना सुख और सन्तोष उनके मुँह पर है किस ब्रह्मवादी में नहीं देख पाता । ब्रह्म और अनुराग दोनों उनके लिए एक हो उठे हैं ।

याज्ञ०—वान्त शिष्य में गुरुपुत्री के अनुराग की भी चर्चा राजर्षि !

जनक—जैसे आप जानते नहीं ! आ रही हैं आपके सामश्रवा के साथ···पूछता हूँ उनसे यहीं । गोपालक गौओं के साथ आ गये···देख रहे हैं ये एक सहस्र गायें···

याज्ञ०—उनके सींग स्वर्ण-पत्र से मढ़े हैं···

जनक—मैं ऋषियों को सम्बोधित कर कहूँगा जो सब से बड़

ब्रह्मवादी हो इन गौओं को ले जाए। उस समय आप उन्हें हँकवा देंगे।

याज्ञ०—इन सब ऋषियों में सबको हीन कर···

जनक—उनके प्रश्नों का उत्तर आप देंगे मुझे विश्वास है। आपकी वाणी के प्रभाव में ये ऐसे झूमेंगे जैसे नाद के प्रभाव में सर्प झूमता है। आपकी आँख से आँख मिलाने का साहस किसमें होगा··· कौन सह सकेगा आपकी मेधा का तेज ?

याज्ञ०—वाचाल कहा जाऊँगा मैं! अहंकारी, उद्धत, फिर वाचाल—एक साथ तीन तीन विशेषण मेरे नाम के साथ जुट जायेंगे।

जनक—शक्ति का जितना अधिक विरोध हो वही अच्छा है और आज इसी सभा में सिद्ध हो जायगा कि इस युग के आप सबसे बड़े ब्रह्मवर्चस हैं। वेद और यज्ञ की परिधि के बाहर क्या आपके रहते भी हमारी बुद्धि अभी न निकलेगी ?

याज्ञ०—राजर्षि ! खुल कर कहें आप चाहते क्या हैं ?

जनक—वैशम्पायन के वेद और यज्ञ विद्या से हटाकर ब्रह्मवाद की नाव को काल के समुद्र में छोड़ना। संसार आज देखेगा जो सम्मान किसी यज्ञ पुरोहित को नहीं मिला वह ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य को मिलेगा।

याज्ञ०—उसका साधन मैं बनूँगा क्यों राजन···!

जनक—वेद और ब्रह्म का संघर्ष मिटाकर लोक जीवन को सुलभ मार्ग देना है। शुक्ल यजुर्वेद में ब्रह्म और वेद का द्वन्द केवल आप मिटा सकेंगे। जो संकल्प सूर्य को साक्षी देकर आपने किया है उसमें सभी विदेह जन का योग मिलेगा। मिथिला में जो कीर्ति आपको मिलेगी वह कुरु और पांचाल पर सावन के मेघ-सी छा जायेगी।

याज्ञ०—कीर्ति का बन्धन लोहे की शृङ्खला से भी दारुण है राजर्षि !

जनक—तब क्या वेद और ब्रह्म का यह द्रोह चलता रहेगा ? युग के मेघ में युग का धर्म जब तक जल न बनेगा लोक का कल्याण और

अभ्युदय कैसे होगा ?

याज्ञ०—वेद की प्रतिष्ठा भौतिक बन्धनों के परे ब्रह्म में करने का संकल्प तो मैं ले चुका हूँ, पर यहाँ ऋषियों से द्वन्द मुझे नहीं रुचता।

जनक—जितने मस्तक उतने विचार से जन-जीवन की नींव हिल रही है। सूर्य के प्रकाश की तरह हमें ज्ञान का वह प्रकाश देना है जिसके सामने और सभी प्रकाश मन्द पड़ जायें। लोक-व्यवहार का चालू धरातल थोड़ा छूट भी जाय तो भी कोई चिन्ता नहीं।

सामश्रवा—(**प्रवेश कर**) आचार्य !

याज्ञ०—रुको अभी···फिर मयूरपोत निकल जायेगा और हमें छोटी नौका से यात्रा करनी पड़ेगी।

जनक—चिन्ता न करो भद्र। विदेह जन का सिंहपोत तुम्हें कुरुजन में पहुँचा आयेगा और फिर योगीश्वर याज्ञवल्क्य केवल कुरु देश के नहीं सारे देश के हैं। देश और काल की सीमा इन्हें न बाँध सकेगी।

मैत्रेयी—पर मन अब एकान्त चाहता है राजर्षि ! हमें आज्ञा हो।

जनक—देवी ! तुम्हें अपने मन को आकाश-सा विस्तृत और धरती-सा दृढ़ करना पड़ेगा। जन-जीवन से दूर एकान्त की कामना क्या स्वार्थ नहीं है ?

मैत्रेयी—वेद और ब्रह्म स्वार्थ से कितनी दूर है राजर्षि ?

जनक—(**हँसकर**) इन प्रश्नों का उत्तर अभी सुनोगी देवी ! इसका निर्णय अभी हो जाता है। इस ऋषि मण्डली में सबसे बड़ा ब्रह्मवादी कौन है।

मैत्रेयी—तुम भी भाग लोगे वाजसनेय !

जनक—विजय इन्हीं की होगी···हाँ···हाँ···आप विश्वास करें।

मैत्रेयी—ऐं···सच आप कैसे जानते हैं ?

जनक—सब ऋषि आ गये। गौएँ खड़ी हैं। तब फिर मैं प्रस्ताव कर रहा हूँ।

याज्ञ०—मैं अपने विनय से सबको सुख दूँगा। उत्तेजना की

स्थिति में···

मैत्रेयी—तुम हँसते रहना वाजसनेय !

याज्ञ०—मेरी शक्ति जो तुम यहाँ हो मैत्रेयी !

जनक—सुनें, सभी वेदज्ञ सुनें, इस ब्रह्म परिषद् में जो श्रेष्ठ ब्रह्मवादी हो, इन स्वर्ण-पत्र मंडित गौओं को ले जाय । विदेहजन की ओर से मैं इस प्रस्ताव की घोषणा कर रहा हूँ ।

मैत्रेयी—अरे ! चित्रफलक-सी ऋषि मण्डली सन्न क्यों हो गयी ?

याज्ञ०—प्रियदर्शन सामश्रवा ! इन गौओं को हाँक लो ।

एक स्वर—इन सभी वयस्क महर्षियों में सबसे बड़े ब्रह्मवादी तुम्ही हो वाजसनेय ?

(गायों के घेरे जाने का शब्द)

याज्ञ०—आर्य अश्वल ! सबसे बड़े ब्रह्मवादी जो आप हों इन गायों को रोक लें । गुरुजनों के सम्मान की रक्षा के लिए मैंने सोचा यह विवाद बच जाय और आप लोगों का यह सेवक जो आप लोगों में सबसे छोटा है अपने योग क्षेम के लिए इन्हें ले जाय ।

एक स्वर—हमारे प्रश्नों के समाधान पर ही गायें इस जगह से हिलेंगी ।

याज्ञ०—आप सब एक साथ प्रश्न करेंगे या बारी-बारी···

एक स्वर—बारी···बारी···पर क्या तुम सबके उत्तर एक साथ भी दे सकोगे ?

याज्ञ०—मुझे अपने ब्रह्मवाद में विश्वास है । मै सारे प्रश्नों का उत्तर एक साथ भी दे सकूँगा ।

जनक—जिन्हें वाचा प्रस्तुत करनी हो इधर यज्ञशाला में आ जायें ।

एक स्वर—हाँ···हाँ चलें आप लोग आ जायँ···यहाँ···यहाँ···

(सन्नाटा)

मैत्रेयी—यह कौन तरुणी है जो कान लगाकर यज्ञशाला के एक-एक शब्द को सुन रही है । चलूं देखूँ···कौन हो तुम भवति ।

गार्गी—मैं गर्ग गोत्र की गार्गी हूँ और तुम···

मैत्रेयी—मैं···मैं · तात वैशम्पायन की···

गार्गी—तो तुम्हीं वान्त शिष्य की···

मैत्रेयी—**(तीव्र स्वर)** क्या···?

गार्गी—बिगड़ो न बहन ! वाजसनेय के साथ आने के लिए पिता छोड़ दिया जिसने ?

मैत्रेयी—जन्म भर पिता के घर कौन रहती है बहन ! तुम्हारी आँखों में·· वाणी में व्यंग है, क्यों ?

गार्गी—तुम्हारे साहस से मुझे विस्मय है ।

मैत्रेयी—तुम्हारी अवस्था भी मेरी है । गार्ग्य महाशाल में कोई ऐसा न मिला जिसके साथ तुम भी यह साहस···

गार्गी—मैं ब्रह्मवादिनी हूँ···

मैत्रेयी—फिर भी साँस लेती हो, जल भी पीती हो, रोहित का रस भी···प्रकृति के सारे कर्म करती हो·· केवल यही एक नहीं ?

गार्गी—व्यंग कर रही हो ?

मैत्रेयी—प्रकृति का धर्म कभी व्यंग नहीं होता ।

जनक—साधु ! महात्मन् याज्ञवल्क्य ! इतना सरल तेजस्वी उत्तर आप ही दे सकते हैं । मेरे होते आचार्य अश्वल का उत्तर आपने बड़े विवेक से दिया । मेधावी भुज्यु और कहोल का समाधान भी आप कर चुके । किसी को और कुछ पूछना है ?

मैत्रेयी—यह कौन बोल रहा है देवी ?

गार्गी—ये भगवान उषस्ति हैं···उपस्थित सभी ऋषियों में प्रधान आयु और विद्या में···अरे ! इनके प्रश्न का उत्तर भी वाजसनेय हँस-हँसकर इतनी सरलता से देते जाते हैं । इनके शब्दों में कितना संयम और शील है ? वाणी का चमत्कार···

मैत्रेयी—तुम प्रश्न न करोगी बहन ?

गार्गी—करूँगी । उनके सामने ठहर कर उनकी आँखों में देखने

का तो अवसर मिलेगा। इन ऋषियों में सबसे सुन्दर और···

मैत्रेयी—**(हँस कर)** ब्रह्मवादिनी का मन भी युवा और सुन्दर के लिए ललचता है बहन !

गार्गी—तुम बड़ी वैसी हो···

मैत्रेयी—कैसी···?

गार्गी—जैसी हो ·

मैत्रेयी—तभी तो वान्त शिष्य के साथ चली आई · युवा और सुन्दर का सम्मोहन ब्रह्म के सम्मोहन से अधिक काम करता है । कौन जाने वह भी सुन्दर और युवा हो · कैसा है, देखा है कभी तुमने···

गार्गी—वह शब्द के परे·· मन और वचन के परे हैं।

मैत्रेयी—तब निश्चित युवा और सुन्दर होगा। **(हँसी)**

जनक—भगवन् उषस्ति का समाधान भी तेजस्वी वाजसनेय ने कर दिया। किसी को और कुछ पूछना है ?·· कोई नहीं···तब

गार्गी—**(जाते जाते)** अब मैं चलूँ···

मैत्रेयी—द्वन्द युद्ध के लिए ? **(मंद हँसी)**

गार्गी—मुझे वाचा प्रस्तुत करनी है राजर्षि !

जनक—ब्रह्मवादिनी गार्गी ! वाचक्नु की पुत्री ?

गार्गी—हाँ मेरे प्रश्न का उत्तर वाजसनेय दें।

याज्ञ०—प्रस्तुत हूँ देवि पर कुमारी का ब्रह्मवाद कुछ जँचता नहीं।

गार्गी—और कुमार को जँचता है···? **(हँसी)**

जनक—भगवान् याज्ञवल्क्य ! गार्गी की प्रतिभा असाधारण है।

याज्ञ०—सुन चुका हूँ · आज दर्शन का भी लाभ मिला।

गार्गी—मैं केवल दो प्रश्न पूछना चाहती हूँ । इन प्रश्नों का उत्तर देकर तेजस्वी याज्ञवल्क्य सबसे बड़े ब्रह्मवादी हो जायेंगे।

याज्ञ०—वाचा का विस्तार नहीं भवति !

गार्गी—वीरपुत्र विदेहराज या काशिराज जिस प्रकार धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर शत्रुजयी दो बाण एक ही साथ साधते हैं वैसे ही मेरे

दो प्रश्न हैं ।

याज्ञ०—सुभगे ! तब तुम ब्रह्म विद्य में रण विद्या भी जानती हो···पर मैं कुमारी के साथ रण की कामना नहीं करता ।

(कई कण्ठों की हँसी)

गार्गी—शास्त्रार्थ के नियमों के भीतर रहो भद्र ! **(खीझ कर)**

याज्ञ०—क्या यह सच नहीं कि नारी···

गार्गी—यह निर्णय ब्रह्मवाद का है या नारिवाद का राजर्षि !

(उत्साह की सम्मिलित हँसी)

याज्ञ०—अपने प्रश्न कहो सुन्दरी !

गार्गी—इस शब्द से फिर सम्बोधन !

याज्ञ०—आयु, रूप और गुण के विचार से सम्बोधन भी होता है । पर निराकार ब्रह्म की तरह वाचक्नु-पुत्री भी जो बिना रूप गुण हों तो मैं अपना यह सम्बोधन लौटा लूँ ।

जनक—साधु भद्र ! साधु **(हँसी)**

गार्गी—इस स्थिति में मैं अपने प्रश्न न कर सकूँगी ?

याज्ञ०—तब मैं भगवती से मन्त्र लेने को प्रस्तुत हूँ वह मुझे जिस तरह आदेश दें · खड़े होने का···देखने का ··

गार्गी—**(मन्द ध्वनि में)** साँप का सम्मोहन है इन आँखों में

याज्ञ०—सुन नहीं पड़ा क्या कह गईं आप ?

गार्गी—मेधावी ! जो इस ब्रह्माण्ड के ऊपर है और नीचे भी कहा जा सकता है, जिसमें द्युलोक, पृथ्वी, भूत, वर्तमान, भविष्य सब सम्मिलित हैं वह क्या है ?

याज्ञ०—वह सर्व-व्यापी आकाश है देवि !

गार्गी—इस सरल उत्तर से मैं सन्तुष्ट हूँ ।

मैत्रेयी—**(मन्द ध्वनि)** भला तुम सन्तुष्ट तो हुईं···कहाँ आ रहे हो सामश्रवा । गायें भाग चलेंगी ।

सामश्रवा—देवी के अन्तेवासी उन्हें घेरे खड़े हैं । क्या लक्षण हैं ?

मैत्रेयी—तुम डरो नहीं···तुम्हारे आचार्य जीत जायेंगे।

सामश्रवा—सत्य देवि ! **(प्रसन्न होकर)**

मैत्रेयी—हाँ···आकाश में सूर्य का तेज जितना सत्य है।

गार्गी—इस प्रश्न का उत्तर भी मै पा गई। मैं ब्रह्मवादी इन भगवान को प्रणाम करती हूँ। इनके पराक्रम की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये अविजित हैं।

जनक—धन्य हो तुम देवि ! तुमने मेरे मन की बात कही। सुनें, सभी ऋषि सुनें, भगवान याज्ञवल्क्य इस सभा में सबसे बड़े···

एक स्वर—अभी नहीं मेरे प्रश्नों का उत्तर जब तक न दे लें···

जनक—कौन ऋषि-पुत्र साकल्य···

याज्ञ०—पर यदि केवल विवाद के लिए प्रश्न बढ़ाओगे और मेरे प्रश्न का उत्तर न दोगे तो तुम्हारा सिर धड़ मे गिर जायगा।

सावश्रवा—हाय ! हाय ! अब यहाँ मल्ल युद्ध होगा। धड़ से सिर गिरने का क्या अर्थ देवी ?

गार्गी—चुप रहो प्रियदर्शन ! मान का भंग होना सिर गिरने के समान है।

मैत्रेयी—क्या क्या प्रश्न पूछा इस साकल्य ने···

गार्गी—इसका एक नाम विदग्ध है। अग्निहोत्र की अग्नि में यह एक बार जल गया था। इधर का एक अंग इसका जलने से श्वेत कुष्ठ सा हो गया है।

मैत्रेयी—तब इसे इस सभा में भाग नहीं लेना था।

गार्गी—पर वह आया है। इस रोग का रोगी नहीं है और वह भी परिधान से छिपा रहता है।

जनक—**(उत्साह से)** धन्य भगवन् ! याज्ञवल्क्य आपने सुन्दर उत्तर दिया आपकी विजय है।

कई स्वर—भगवान याज्ञवल्क्य की विजय है।

विदग्ध—अभी नहीं···

याज्ञ०—तब तक प्रश्न करते रहोगे भद्र ! जब तक इस पृथ्वी का अन्त न हो जायेगा। तुम्हारे तीन प्रश्नों का उत्तर मैंने दिया, केवल तुम मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो।

जनक—साधु···प्रस्ताव करो विजयी ··

सामश्रवा—आप लोग कामना करें आचार्य के प्रश्न का उत्तर यह दग्ध न दे पाये।

गार्गी—अहा ! देखो बहन यहाँ से भीतर का दृश्य । प्रश्न का उत्तर विदग्ध नहीं दे सकता···उसके अंग काँप रहे हैं । भय से उसका मुंह काला पड़ गया है । ललाट, नाक और कण्ठ से पसीना निकल रहा है।

जनक—खेद है·· उत्तर तुमसे न दिया गया···मान भंग से तुम·· तुम अब मृत हो। तुम्हारे शिष्य ऋषि याज्ञवल्क्य की सेवा करेंगे और तुम ऋषि के पद से गिर पड़ोगे। भगवान् याज्ञवल्क्य की जय···

याज्ञ०—सामश्रवा ! इन गौओं को बाँट दो। जो लेना चाहें ले लें·····

गार्गी—विजय की बधाई भगवन् !···क्या मुझे सेवा में रहने का अवसर मिलेगा ?

मैत्रेयी—मेरी ओर क्या देख रहे हो···समुद्र एक ही साथ कई नदियों का स्वागत करता है···वृक्ष से कई लताएँ लिपटती हैं।

गार्गी—मैं भगवती की छोटी बहन बन कर रहूँगी।

मैत्रेयी—गार्गी···! ऐसा नहीं । तुम ब्रह्मवादिनी हो। तुम दोनों ब्रह्म देख चुकीं। मैं बस एक जानती हूँ जो आँखों के सामने है।

गार्गी—यह तो गोत्र के कारण—नहीं तो मेरा नाम कात्यायिनी··· ब्रह्म दो नहीं होता।

मैत्रेयी—भागो मत···यहाँ आओ अपने ब्रह्म के समीप···

जनक—भगवान् याज्ञवल्क्य की यह विजय शास्त्रार्थ की विजय से भी महान् है।

परिवर्तन

सामश्रवा—देवि ! अतिथि···

मैत्रेयी—देखो बहन कौन है ? पादार्घ्य दो···

सामश्रवा—भारत विजयी अर्जुन के वंशज परन्तप शतानीक संन्यास की दीक्षा के लिए आये हैं।

कात्यायिनी—पर ऋषि तो अभी गृहस्थ कुल के आचार्य हैं ! चलो उनका सत्कार करें (**जाने की ध्वनि**)

मैत्रेयी—ऋषि का चित्त भी वैराग्य की ओर बढ़ा रहा है । जम्बू द्वीप के सबसे बड़े महाशाल के कुलपति···

याज्ञ०—(**प्रवेश कर**) चिन्तित हो प्रिये। कोई अभाव···

मैत्रेयी—देव के चरण जब तक सुलभ हैं अभाव मेरे निकट क्यों आयेगा ? पाण्डववंशी शतानीक भगवान् से संन्यास की दीक्षा लेने आये हैं।

याज्ञ०—(**हँसकर**) तो इसलिये तुम चिन्तित हो कि मेरे दिन भी आ रहे हैं ?

मैत्रेयी—वैराग्य के प्रभु···! (**ऊँची साँस**)

याज्ञ०—हाँ प्रिये ! जीवन के जो चार भाग कर्म संग्रह और फिर निवृत्ति के हैं उनकी मर्यादा तो रखनी ही होगी। नहीं तो फिर लोक में असमय भोग की लालसा बढ़ने लगेगी।

मैत्रेयी—तो देव सचमुच संन्यास लेंगे ? (**आर्तवाणी में**)

याज्ञ०—जितनी जल्दी सम्भव हो । शतानीक को दीक्षा देने का अधिकार मुझे अभी नहीं है। इसलिए कि अभी मैं स्वयं गृहस्थ हूँ। इस बन्धन से मुक्त होकर उस अधिकार का पद लेना है जिसमें शतानीक से राजर्षियों को संन्यास धर्म की दीक्षा भी दे सकूँ।

मैत्रेयी—इतने आनन्द से यह बात कही गई जैसे यह कोई राज-भोग हो।

याज्ञ०—सभी भोगों का समाहार संन्यास है । समुद्र में पहुँच कर जिस तरह नदियाँ मिट जाती हैं उसी तरह संन्यास में पहुँच कर कर्म के सभी भोग मिट जाते हैं । शतानीक से कह दूँ इन्हें दीक्षा देने का अधिकार अभी मुझे नहीं है । (**जाने की ध्वनि**)

मैत्रेयी—काल की गति कठिन है । जिस रूप और तेज के आकर्षण में पिता का कुल छोड़ा, विदेह की सभा में जिसका सम्मोहन ब्रह्मवादिनी गार्गी पर इतना पड़ा कि वह उसकी सहचरी बनी, वही अब संध्या के सूर्य की तरह नीचे उतर रहा है ।

कात्यायिनी—(**प्रवेश कर**) क्या हुआ बहन ! आपकी आँखों में आँसू कैसे ?

मैत्रेयी—अब तुम ठीक-ठीक ब्रह्मवादिनी बनोगी, देव अब संन्यास लेंगे ।

कात्यायिनी— विदेह की सभा के सबसे बड़े ब्रह्मवादी संन्यास लेंगे ? तब तो क्षत्रिय विधान ब्रह्मवाद को निगल जायेगा । यह न होने दूँगी । ब्रह्मवाद तभी तक है जब तक यौवन है या उसके आगे भी · (**गहरी साँस**) ।

मैत्रेयी— बुद्धि की लौ मेरे भीतर होती तो फिर पिता के वान्त शिष्य की पत्नी मैं क्या बनती ? मैंने भी तब वही कहा था जो तुम आज कह रही हो ।

कात्यायिनी—क्या···? (**उत्सुक मुद्रा में**)

मैत्रेयी—कहा था···यह ब्रह्म तभी तक है जब तक यौवन है···अनुराग है । जिसे तुम ब्रह्म कहते हो उसे मैं अनुराग कहूँ तब ··

कात्यायिनी—धन्य देवी ! तब क्या कहा उन्होंने ?

मैत्रेयी—कहा था···कह सकती हो ।

कात्यायिनी—ऐसा ही था तो उपनिषद् विद्या क्यों चली ? वेदों के यज्ञ और आश्रम पार कर दिए होते ।

मैत्रेयी—तुम विदुषी हो, मैं तो यह सब जानती नहीं ?

कात्यायिनी—पर प्रिय के अनुराग में ब्रह्म का सुख तुम्हें मिला बहन ! मैं तो नेति-नेति में पड़ गई। (**अधीर स्वर में**)

याज्ञ०—प्रियदर्शन सामश्रवा ! राजर्षि के ठहरने के स्थान आदि की व्यवस्था शीघ्र कर आओ।

सामश्रवा—जो आज्ञा देव···

याज्ञ०— **प्रवेश कर**) मानते ही नहीं शतानीक, कहते हैं कि दूसरे से नहीं केवल मुझसे संन्यास की दीक्षा लेंगे।

कात्यायिनी—(**उद्वेग में**) पर किस तरह ? ब्रह्मवादी संन्यासी नहीं होगा।

याज्ञ०—होगा प्रिये ! लोकरथ चलाने के लिए। व्यक्ति का धर्म भी लोक के हित में चलता है।

कात्यायिनी—हूँ तब वैशम्पायन की यज्ञ विधि क्यों छोड़ी गई ? विदेह की परिषद् में ब्रह्मवादी का सबसे बड़ा गौरव क्यों उठाया ? जब अन्त में वही करना था जो सभी करते हैं। (**स्वर काँपता रहता है**)

याज्ञ०—युग के अनुसार धर्म का भी संस्कार होता है। ब्रह्म और वेद का संघर्ष मिटाकर मुझे लोक जीवन को वह पथ देना था जिसमें विद्या के दोनों तल एक में मिल जायें।

कात्यायिनी—हूँ अब देख रही हूँ पुरुष अपने ब्रह्म को भी अपने पीछे ले चलता है। नारी ब्रह्म और विद्या का नाम क्यों ले जब वह पुरुष के आगे जा नहीं सकती।

मैत्रेयी—क्रोध न करो। अब हमें भोग भर छोड़ना होगा। प्रिय न छूटेंगे।

कात्यायिनी—सो कैसे ? संन्यास में प्रिय भी छूटेंगे यही नियम है।

मैत्रेयी—क्या · (**भय और शोक में हिल उठती है**)

याज्ञ०—ऐसे क्लेश से नहीं प्रिये ! पति प्रिय होता है पति की कामना से नहीं आत्मा की कामना से और पत्नी प्रिय होती है पत्नी की कामना से नहीं आत्मा की कामना से। वेद और ब्रह्म के संतुलित धर्म

के लिए मुझे अपनी आत्मा की कामना लोक में खोजती है । आ गये सामश्रवा ।

सामश्रवा—हाँ आचार्य !

याज्ञ०—कहो तुम ऐसे···

सामश्रवा—जी···

याज्ञ०—अरे ! भय में पीले पड़ गये हो । कहो भी बात क्या है ?

सामश्रवा—तात !

याज्ञ०—(**मुस्करा कर**) मेरा प्रधान अन्तेवासी भय में डोल रहा है । अब धरती डोलेगी ।

सामश्रवा—किसी गंभीर संकल्प का तेज आपके मुखमंडल से फूट रहा है । सूर्य की ओर भी देख लेते हैं मध्यान्ह में भी पर आप की ओर देखा नहीं जाता । मेरे लिए तो धरती भी डोल रही है तात !

मैत्रेयी—
कात्यायिनी— } हम सब के लिए धरती डोल रही है पुत्र !

सारे जगत के लिए धरती डोल रही है ।

सामश्रवा—भवति ! मेरी बुद्धि में कुछ नहीं बैठता !

कात्यायिनी—तुम्हारे आचार्य संन्यास ले रहे हैं ।

सामश्रवा—(**भय में**) कब माता !

कात्यायिनी—सूर्य का रथ रोक कर आज ही ·

याज्ञ०—इस विदेहजन पद के ऋषियों और महाजनों के आग्रह से जिस संहिता के निर्माण में लगा···वह आज ही प्रातःकाल पूरी हुई है । राजर्षि सतानीक की दीक्षा के पहले मुझे स्वयं संन्यास ले लेना है । संन्यास का इच्छुक अधिक दिन प्रतीक्षा में न रहे इस कारण संध्या से पूर्व तुम यहाँ की महर्षि मंडली और राजर्षि विदेह को सूचित करो मेरे शाल में आने के लिए । इस संहिता का समाहार सुनाकर मैं सूर्य को साक्षी देकर संन्यास ग्रहण करूँ ।

सामश्रवा—दो घड़ी में सब आ जायेंगे । **(स्वर काँपने लगता है)**

याज्ञ० —अब **(गंभीर स्वर से)** मेरे महाशाल की सम्पत्ति आप दोनों समान भाग में ले लें भवति !

मैत्रेयी—पिता के शाल की सम्पत्ति छोड़ आयी मैं जिस सम्पत्ति के लिए अब उसे छोड़कर उस सम्पत्ति में पड़ूँ जो नाशवान है । जिस संपत्ति के लिए आप सब छोड़ रहे है उस अमृत में मुझे अधिकार दें प्रभु ।

याज्ञ०—और तुम भवति ! **(गार्गी को संकेत कर)**

कात्यायिनी—मैं ब्रह्मवादिनी हूँ···संन्यास में मेरी रुचि नहीं । अपने ब्रह्म के लिए इस शरीर को मुझे अधिक से अधिक योग और प्रसाधन से तुष्ट करना है । संन्यास से जब मन हटे मेरे ब्रह्म बनकर आ जाना ।

याज्ञ०—तब तुम फिर मेरे विरोध में खड़ी हो रही हो ?**(मन्द हँसी)**

कात्यायिनी—पति और पत्नी का प्रेम दोनों के भेद का विरोध है । यह विरोध जितना प्रबल है अनुराग भी उतना ही प्रबल है ।

याज्ञ०—तो क्या तुम इसी लिए शरीर के प्रसाधन में अधिक समय देती रही हो ?

कात्यायिनी—शरीर के और गृह के भी जिससे प्रिय सब ओर से संतुष्ट रहें । मैं इस आचार्यकुल के पोषण में प्रिय के पोषण का फल पा लूँगी । अत्मा की कामना है यह मेरी ।

याज्ञ०—तुम्हें जिसमें सुख मिले । मेरी अभी की कही बात जो तुम इस रूप में ··

(सन्नाटा)

सामश्रवा—ऋषि-मण्डली उपस्थित है देव ! राजर्षि विदेह और विदेहजन के सभी अधिकारी राजन्य ·

याज्ञ०—युग भेद के अनुरूप भगवान मनु की स्मृति के आधार पर जिस संहिता का प्रवर्तन आप महापुरुषों की इच्छा से मैंने किया वह संहिता भोज-पत्र पर लिखी आपके समक्ष है ।

जनक—मनुस्मृति से इसका भेद क्या है देव !

याज्ञ० —युग और देश की परिस्थिति के अनुसार लोकधर्म के संचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन इसमें सब कहीं होता गया है। देश और काल की वृत्ति में जो धर्म का रूप है उसके अनुरूप यह निषेध मैंने कर दिया है कि नीच वर्ण की कन्या के साथ अब उच्च वर्ण के विवाह न हों। हमें अब जनसंख्या नहीं बढ़ानी है।

दो स्वर—साधु ! साधु ! भगवान !

याज्ञ०- -इस संहिता में तीन अध्याय और १०१२ श्लोक हैं। मनुस्मृति की भाँति इसके अध्याय भी गर्भाधान से लेकर अध्यात्म प्रकरण तक के सभी विषयों से पूर्ण हैं। अब आप लोग मुझे आदेश दें कि मैं अपने गुरू लोक नायक सूर्य को साक्षी बनाकर उन्हीं से संन्यास धर्म की दीक्षा लूँ।

जनक—बोलो भगवान याज्ञवल्क्य की जय ! सत्य है लोक नायक सूर्य के अतिरिक्त दूसरा कौन इनका गुरु बनेगा। पृथ्वी के इस सूर्य को जो अपनी आँखों देख चुके उनके जन्मजन्मान्तरों के पाप का क्षय हो गया।

सामश्रवा—यह आचार्यकुल किस पर टिकेगा ?

याज्ञ०—हारीत इसे संभाल लेगा। मेरी आसन्दी का मान तुम पर है और आचार्यकुल की अधिष्ठात्री देवी कात्यायिनी यहीं रहेंगी।

(कई कण्ठों से जय भवति।)

कौटिल्य

[चन्द्रगुप्त मौर्य को आगे कर समूचे भारतवर्ष को एक शासन सूत्र में बाँधने वाले और अर्थशास्त्र के लेखक विष्णुगुप्त के जीवन का नाटकीय चित्रण ।]

पात्र सूची

कौटिल्य—	तक्षशिला के आचार्य चन्द्रगुप्त के गुरु ।
चन्द्रगुप्त—	पाटलीपुत्र का प्रथम मौर्य सम्राट ।
मेगस्थनीज—	यवन राजदूत ।
हेममाला—	यवन राजकुमारी : चन्द्रगुप्त की पत्नी ।
राक्षस—	नन्द राज का मेधावी मन्त्री ।
वसन्तसेना—	विषकन्या : पाटलीपुत्र की रूपवती वारांगना ।
मोहिनी—	हेममाला की प्रतिहारी ।

(चन्द्रगुप्त का संस्थागार । सौ खम्भों पर टिकी विस्तृत छत में रत्नों की पच्चीकारी तारों जटित आकाश-सी जगमगा रही है । रत्न जटित खम्भों और दीवारों में एक आकृति अनेक हो रही है । सिंहद्वार के सामने हेमकूट-सा विशाल सिंहासन । श्वेतवितान में मोती की झालर और उन पर हीरक और हाथी-दाँत के राजहँस पन्ने की बेलों में उलझ रहे हैं । संस्थागार के चारों ओर हाथी दाँत के किवाड़ खुले हैं । सिंहासन की दाईं ओर प्रमद-वन के वृक्ष, कुञ्ज, लतायें, सरोवर, समुद्रगृह और मदन-गृह देख पड़ते हैं । बाईं ओर के द्वार से तरुणी यवन सुन्दरी मोहिनी का प्रवेश । अपने हाथ का रत्न खचित चंवर सिंहासन के सिंहों पर फेरने लगती है । सामने सिंहद्वार से यवन राजदूत मेगस्थनीज़ का प्रवेश ।)

मोहिनी—अहा ! राजदूत कब आये ? **(घूमकर देखती है)**

मेगस्थनीज़—पर मैं तुम्हारे पीछे से आया···पैर दबाकर···**(विस्मय की मुद्रा)**

मोहिनी—ऐसे अचरज में क्या देख रहे हो···**(मन्द मुस्कान)**

मेगस्थनीज़—यहाँ आकर तुम्हारे सिर में पीछे भी आँखें निकल आई हैं · सच कहो कैसे देख लिया तुमने ?

मोहिनी—तुम्हारी छाया कहाँ नहीं पड़ रही है । खम्भों में, दीवारों में ··मैंने तुम्हें इस सिंह की आँख में देख लिया ।

मेगस्थनीज़—यह जादू का देश है मिनी···

मोहिनी—**(हँसकर)** मैं अब मोहिनी हूँ···मेरा नाम बदल गया यहाँ । राजपुत्री भी अब हेलन नहीं हेममाला है ।

मेगस्थनीज़—क्या **(उत्सुक होकर)**

मोहिनी—हम सब के नाम बदल गये·· सबके राजपुत्री का नाम बदल गया तो फिर हम दासियों की क्या बात ?

मेगस्थनीज़—तुम सब डेढ़ सौ यहाँ हो···इतने नये नाम कहाँ मिलेंगे ?

मोहिनी—वह जो बूढ़ा कंचुकी है गंधमादन···हर दिन जो हमें नया काम और रहने की नई जगह बताता है, हमारा नाम बस एक बार मुँह में जीभ घुमाकर ऐसे बदल देता है जैसे···जैसे मक्खन की गोली निगल रहा हो। (**हँसकर**) और हाँ···तुम पन्द्रह दिन बाहर रहे इस बीच यहाँ धरती बदल गई।

मेगस्थनीज़—क्या···क्या ··हुआ ? (**विवश होकर**)

मोहिनी—यहाँ आओ कोई सुन न ले।

मेगस्थनीज़—डर में नहीं···हाँ कहो···कहती क्यों नहीं। यहाँ भी मैं स्वतन्त्र यवन हूँ।

मोहिनी—महाराज यवन कन्याओं का मुँह देख कर सवेरे पलंग से उठते हैं।

मेगस्थनीज़—कब से···? (**मुँह खोल कर देखने लगता है**)

मोहिनी—आज सवेरे से यह नियम हुआ है।

मेगस्थनीज़—खोल कर कहो क्या बात है।

मोहिनी—रात रहते हम सात को स्नान करना पड़ा। अंजन, अंगराग, आभूषण और सोने के बेल-बूटों वाले कौशेय वस्त्र पहनने पड़े। फिर एक हाथ में धनुष और दूसरे में फूलमाल लेकर उनकी सेज को घेर कर खड़ा होना पड़ा। बन्दी बाहर विजय के गीत गा रहे थे। राज-मन्दिर में शंख, भेरी और तूर्य बज रहे थे। हर दिन सात यवन कुमारियाँ यही काम करेंगी।

मेगस्थनीज़—हर दिन ?···हँसी तो नहीं करती हो ?

मोहिनी—आचार्य विष्णुगुप्त ने यह नियम बनाया है जिस की टेढ़ी भौंह से महाराज भी काँप जाते हैं···गंगा की धारा रुकने लगती है।

मेगस्थनीज़—हूँ···महाराज के प्राण के लिए कूट चक्र चल रहा है

इस नगर में । पुराने नन्दराज के मित्र इस ब्राह्मण को मांस नहीं लेने देते । इस नगर में एक दिन एक वर्ष हो रहा है । कब क्या हो जाय कहा नहीं जा सकता । महारानी कहाँ है ?

मोहिनी—यहाँ आकर देखो···वहाँ माधवी के पास हैं वे···महाराज के गले में एक बाँह माला बनी है ।

मेगस्थनीज़—इस समय···नहीं···कह देना मैं सेवा में आया था ।

मोहिनी—रुको भी···कह रही थीं अभी आते ही उनके प्रसाद को मिलो ।

मेगस्थनीज़—अरे इस समय नहीं । महाराज उन्हें बहुत प्रेम करते हैं क्या ?

मोहिनी—बहुत ! चारों ओर संकट के बादल घिर रहे हैं और हाँ एक बात और···

मेगस्थनीज़—तुम तो नई बातों की पिटारी बन गई हो ।

मोहिनी—हर रात महाराज के सोने की जगह नई होगी जिसे केवल यह बूढ़ा कंचुकी जानेगा और···मैं···

मेगस्थनीज़—तुम भी जानोगी ?

मोहिनी—आज ही मैं प्रधान प्रतिहारी बनाई गई हूँ । इसी काम के लिए यह देखो···यह कृपाण आचार्य ने अपने हाथ से दी है । आओ चलें ! यवन राजदूत और किसी भी यवन कुमारी के लिए राजपुत्री हेलन···देखो भूल गई मैं उन का नाम ।

मेगस्थनीज़—चलूँ···पर इस समय जब वे ही दो हैं ।

मोहिनी—हाँ···हाँ चलो···मगध का सिंहासन अनुराग में भी एकान्त नहीं देता ।

मेगस्थनीज़—चलो फिर··· (**संकोच में आगे बढ़ता है**)

(**दोनों का प्रस्थान**)

हेममाला—यहाँ की हवा से दम घुट रहा है आर्यपुत्र! मृत्यु का भय हर समय घेरे रहे, यह जीना भी क्या ?

चन्द्रगुप्त—आचार्य की आँखें सब कुछ देखती हैं प्रिये ! डरना क्या और फिर उस जीने में रस क्या है जहाँ मरने का भय नहीं ! संसार से मरने का डर निकल जाय तो फिर जीने की चाह किसे होगी ?

हेममाला—पर्वतक की मृत्यु से देव दुखी हैं जानती हूँ···

चन्द्रगुप्त—पर्वतक अकेला संसार के राज्य से बडा था। उस के मरने पर भी आचार्य अडिग है हिमालय की तरह···समुद्र की तरह ···जैसे उन के लिए कुछ हुआ ही नहीं। जिसकी दुधारी से फिलिप्स का सिर गेंद बना···सिन्धु के उस पार तक जिसने यवन विजय के सारे चिन्ह मिटा दिए यह पाटलीपुत्र भी उसी की टक्कर में हिला प्रिये ! और यश मिला मुझे । मन करता है आकाश में यह बात भर जाय··· विजय पर्वतक की थी चन्द्रगुप्त की नहीं···(**कण्ठ भर जाता है**)

हेममाला---हाय ! अरे तो आप रो रहे हैं···नहीं···नहीं तब मैं भी···

चन्द्रगुप्त—इसी डर से कि तुम न रोओ मैं सौ-सौ बिच्छू के डंक इस हृदय में सह रहा हूँ । पर्वतक मेरा दायाँ हाथ था । आचार्य के अन्तेवासी हम दोनों एक ही दिन बने थे·· सुख-दुख, संकट, विजय के समान भागी हम दोनों बराबर रहे आधे राज्य पर उसका अधिकार नीति-धर्म से था । पर राज्य न लेकर जिसने केवल सेनापति का पद लिया उसके उपकार से मैं दबा हूँ राजपुत्री !

हेममाला – (**उत्सुक होकर**) यह विषकन्या क्या होती है ? (**एक टक देख कर**) उसके किस अंग में ऐसा मारक विष होता है जिसके संसर्ग से पुरुष मर जाता है।

चन्द्रगुप्त—वह वेश्या बन्दी-गृह में है । उस के अंगों की परीक्षा कोई विकित्सक कर रहा है । आचार्य ने मना किया था यह बात मैं किसी से न कहूँ पर जो हृदय में है उससे भी छिपा रहेगा कुछ ?

हेममाला—सुन्दरी की देह में भी विष होता है यह तो कभी सुना

नहीं । एथेन्स और स्पार्टा में नहीं···पारसपुर और एकबताना में नहीं···प्लातो और अरिस्तातल के ग्रन्थों में नहीं···तात सुनेंगे तो क्या सोचेंगे···यह कन्या आप के लिए आई थी हाय ! अब तक क्या हो गया होता ? **(सिसकने लगती है)**

चन्द्रगुप्त—मेरा दुःख न बढ़ाओ प्रिये···उसके मरने से अच्छा होता मेरा मरना । मित्र घात का पाप मुझे लगेगा ।

हेममाला—सो कैसे ? आपने क्या किया ? आचार्य ने भेजा उसे उनके पास···आप क्या करते ?

चन्द्रगुप्त—मैं उसे रोक लेता ।

हेममाला—आचार्य की आज्ञा तोड़ कर·· हूँ !···ऐसे साहस के लिए आपको दूसरा जन्म लेना होगा ।

चन्द्रगुप्त—त्रिभंग पर जिस समय वह खड़ी हुई·· हाथी दांत पर पद्मराग की मूर्ति-सी···भौंहें कामदेव का धनुष बन गई थीं । वह वेणी अभी केंचुल छोड़कर नागिन लहरा रही थी ··

हेममाला—तब तो उस समय मैं भूल गई थी क्यो···**(मन्द हँसी)**

चन्द्रगुप्त—झूठ न कहूँगा·· तुम्हीं को नहीं, सारे जगत को·· अपने को भी मैं भूल गया था । आसन पर शरीर टिका था, पर मन उसकी मुट्ठी में चला गया था । प्रिये ! रूप के विष की कोई दवा नहीं है··· सर्प का विष उतर सकता है पर रूप का नहीं ।

हेममाला—पर्वतक पर वह विष ऐसा चढ़ा कि फिर न उतरा···पर··· हाँ···यहाँ के भिषग पंचानन ने तो कह दिया मदिरा अधिक पी ली थी ।

चन्द्रगुप्त—उस पर अभी महापद्म की मदिरा चढ़ी है । इस षड़-यन्त्र में सम्भव है उसका भी हाथ हो पर आचार्य की आँखें धरती के गर्भ तक पहुँचती हैं । बात खुल कर रहेगी ।

मोहिनी—राजदूत देवी ! **(सिर नीचे कर हाथ जोड़ती है)**

हेममाला—कौन ! अरे·· आ गये मेगस्थनीज । पाटलीपुत्र में प्रलय हो रही है और तुम्हें मेरी चिन्ता नहीं ।

मेगस्थनीज—यवनराज सैल्यूकस की कन्या और महाराज चन्द्रगुप्त की पत्नी प्रलय के ऊपर चढ़ कर चलेगी । क्यों देव ! झूठ तो नहीं कहता ?

चन्द्रगुप्त—देवी डर गई हैं···यहाँ जो चक्र चल रहे हैं प्रवास में रहने से तुम नहीं जानते ।

मेगस्थनीज—पर वे किसी राह के भिखारी पर चलेंगे ? राजा का जन्म इसीलिए होता है कि वह संकटों से जूझे । सब के भाग्य में राज क्यों नहीं होता···और सब रानी क्यो नहीं बनतीं ?

हेममाला—तुम्हारी पोथी के लिए कोई सामग्री मिली इस यात्रा में ?

मेगस्थनीज—इस बार कुशीनारा तक गया था जहाँ शाक्य मुनि का शरीर छूटा था···उस लुम्बिनी को भी देखा जहाँ आम की बारी में उनका जन्म हुआ था । सभी गाँव एक से हैं । अतिथि की सेवा का लाभ सभी चाहते हैं । अपराध यहाँ राजधानी में भले मिले वहाँ कहीं नही है । चोरी कहीं नहीं सुनी·· दूसरे का धन लोहा और दूसरे की स्त्री सब के लिए माता है । पति के मरने पर वहाँ पत्नी उसकी चिता पर बैठ कर जल जाती है···किसी दूसरे पुरुष की ओर देखती नहीं ।

हेममाला—क्या···वहाँ मनुष्य नहीं बसते ? जीने का मोह उन्हें नहीं होता ?

मेगस्थनीज—धर्म का मोह उन्हें जीवन से अधिक होता है । जिस अवसर पर जिसका जो धर्म है वह करता ही है। मेरे चले जाने से आपको क्लेश हुआ ?

हेममाला—नहीं···यों ही कह दिया, और क्या जो तात ने कहा था भूल गये ?

मेगस्थनीज—मैं मर जाऊँगा राजकुमारी ! पर मेरी पोथी कभी न मरेगी । अब कभी न जाऊँगा जो आपको क्लेश होता है ।

हेममाला—ऐसा नहीं ··तुम्हारे पास रहने पर···तात ने तुम से जो

कुछ कहा था वह याद पड़ता है ··पति और भाई दोनों की छाया मुझे मिलती है। कौन नहीं चाहता यह !

चन्द्रगुप्त—राजपुत्री अभी बड़ी भोली हैं राजदूत ! पति और भाई दोनों की छाया···देखा है कभी दिन और रात दोनों एक साथ ? **(मंद हँसी)**

मेगस्थनीज—**(हँस कर)** यही सब सुनाना चाहती हैं मुझे।

मोहिनी—आचार्य प्रसाद चाहते हैं देव !

चन्द्रगुप्त—कहाँ···कहाँ हैं वे ? **(संयत बनने की चेष्टा में)**

मोहिनी—संस्थागार में···

चन्द्रगुप्त— कहो अभी आया। तुम चलो राजदूत, हम आ रहे हैं।

(दोनों का प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त—बरसने के पहले बादल का रंग कैसा होता है ?

हेममाला—काला बादल जैसे उजली चादर ओढ़ कर धवल हो जाता है या **(सोचने की मुद्रा)**

चन्द्रगुप्त—भस्म लगा कर··· और जब उसमें बिजली चमकती है ?

हेममाला—कोई देख नही पाता। आँखें मुँद जाती हैं।

चन्द्रगुप्त—आचार्य के शरीर पर पीत वस्त्र उसी तरह आँखें नहीं खोलने देता। उनकी ओर देखने का साहस मुझे नही होता···यों सिंह की आँखों से मेरी आँखें लड़ी हैं।

हेममाला—तब कहो कि आचार्य और उस विषकन्या के सामने तुम्हारा साहस छूट जाता है क्यों··· **(मन्द हँसी)**

चन्द्रगुप्त—हाँ हाँ ··**(मन्द स्वर में)** सुन लें तब ·

(संस्थागार में प्रवेश कर)

चन्द्रगुप्त—प्रणाम आचार्य ।

हेममाला—मैं भी प्रणाम करती हूँ देव !

विष्णुगुप्त—जब तक गंगा में धारा है तुम्हारा सुहाग अचल रहे

राजपुत्री ! बैठो सिहासन पर वत्स !

चन्द्रगुप्त—आप तो भूमि पर हैं। (**आग्रह का स्वर**)

विष्णुगुप्त—(**हँस कर**) हा हा···हा···चन्द्रगुप्त ! तो मैं सिंहासन पर बैठूँ। तपस्वी ब्राह्मण का आसन यही बाघाम्बर है। इसी आसन पर वशिष्ठ, विश्वामित्र बैठे थे; अंगिरा, मरीचि का यही आसन था; रघु, दिलीप के मुकुट इसी आसन पर झुके थे; श्री रामचन्द्र का सिर भी इसी पर लोट कर उस तेज से मढ़ा था जिससे लंका जली थी। इसकी मर्यादा मुझसे निभ जाय मुझे चिन्ता इसी की है। बैठो···मेरे आशीर्वाद से सिंहासन पर···

चन्द्रगुप्त—पर आचार्य ! मेरा अभ्यास अब तक···(**नत मस्तक होकर**)

विष्णुगुप्त—सभी अभ्यास किसी फल के लिए किये जाते हैं। राजपुत्री ! तुम महाराज के बायें बैठो। हमारे धर्म में पत्नी की जगह पति के बायें है···जिधर उसका हृदय होता है। मोहिनी···

मोहिनी—कहें देव !

विष्णुगुप्त—दण्डनायक से कहो बन्दिनी···विलासिनी वसन्तसेना को प्रस्तुत करें।

मोहिनी—जो आज्ञा देव।

(**प्रस्थान**)

चन्द्रगुप्त—(**उत्सुक होकर**) आचार्य, कुछ पता चला उसके रहस्य का ?

विष्णुगुप्त—धीरज धरो, सब यहीं खुल जायेगा ! यहीं मैं हार गया। मेरी बुद्धि सोच नहीं सकी कि पाटली-पुत्र की यह रति और रोहिणी को लजाने वाली वेश्या विष की घूँट है। (**विरक्त हँसी**)

हेममाला—पर यहाँ के सब से बड़े वैद्य ने तो···(**चुप होकर देखने लगती है**)

चन्द्रगुप्त—निदान किया मदिरा की अधिक मात्रा (**कहते कहते**

रुक जाता है)

विष्णुगुप्त—यहाँ के पक्षी तोता, मैना, सभी उस शूद्र महापद्म के भक्त हैं। वैद्य फिर भी मनुष्य है। विषकन्या के प्रयोग से मैंने पर्वतक को मरवा डाला···राक्षस अब इसका प्रचार कर सेना में फूट डालेगा।

चन्द्रगुप्त—जिसके संचालन में सेना अजेय थी···जिस के संकेत पर यवन···अलिकसुन्दर का लाड़ला फिलिप्स अपनी उस सेना के साथ धूल चाट गया, जिसने यवन देश से चल कर आँधी जैसे रुई उड़ाती है···

विष्णुगुप्त—दारयवहु का साम्राज्य जिस के धक्के में धरती पर आ गया उस सेना का अन्त पर्वतक की हुंकार से हुआ था···फिर भी हमें कर्म करना है। फल की चिन्ता से छूट कर···हाँ राक्षस का दण्ड क्या होगा? (**गम्भीर मुद्रा और स्वर**)

चन्द्रगुप्त—बध···

विष्णुगुप्त—वह ब्राह्मण है।

चन्द्रगुप्त—राजनीति में दया नही होती आचार्य! आप यही कहते हैं।

विष्णगुप्त—पर शत्रु को मित्र बनाया जाता है। नन्दराज के नाश हो जाने पर भी···जो राक्षस सेना और कोष से हीन होकर भी अपनी बुद्धि और नीति के बल से हमें चैन नहीं लेने देता, हमें उसके बध से क्या मिलेगा?

हेममाला—हमें चैन मिलेगा आचार्य।

विष्णुगुप्त—व्यवहार-शास्त्र स्त्री के लिए नहीं है राजपुत्री! उसमें तुम्हें नहीं हाथ डालना है। राक्षस के बध से इस युग का सबसे बड़ा स्वामिभक्त सेवक उठ जायेगा। जो प्रजा कभी नन्दराज को घृणा करती थी वही आज उसकी भक्त बन गई है यह राक्षस की बुद्धि का प्रयास है। राक्षस तुम्हारा मन्त्री बनेगा। जिस दिन मैं यह कर लूँगा ·· समझूँगा इस जीवन का फल मिल गया।

चन्द्रगुप्त—(**विस्मय**) और संसार क्या कहेगा आचार्य! जिस

नाई ने क्षत्रिय राजा का बध कर उसकी रानी को भी अपनी कर लिया···राज्य की बात कौन करे और परशुराम की तरह क्षत्रिय राजाओं का संहार कर "सर्वक्षत्रांतक" की उपाधि जिसने धारण की उसके मन्त्री रहे राक्षस और कात्यायन दोनों ब्राह्मण।

विष्णुगुप्त—हाँ पर यह क्यों हुआ ? राक्षस से सुनोगे। तुम्हें बतायेगा वह ··क्षत्रिय ने ब्राह्मण की क्या गति कर दी थी। शास्त्र और शस्त्र जहाँ एक साथ नहीं चलते यही होता है।

वसन्तसेना—(**प्रवेश कर**) दासी प्रणाम करती है आचार्य ··(**हाथ जोड़कर नीचे झुकती है**)।

हेममाला—एं ! यह रूप···ताया ने इसी रूप से अलिकसुन्दर को मोहकर पारसपुर को भस्म कराया होगा और इसी के मोह में आर्त्तकामा ने तालेपमी से

विष्णुगुप्त—रूप की अग्नि में साम्राज्य भस्म होते रहे हैं राजपुत्री कोई नई बात नहीं। यहाँ भी भस्म हुआ होता ··

वसन्तसेना—शपथ से कहती हूँ आचार्य ! मेरा कोई अपराध नहीं है।

विष्णुगुप्त—तक्षशिला के उपाध्याय का दुर्भाग्य है सुन्दरी ! वह राजनीति में पड़ गया। पर वह इसमें रहेगा नहीं। इससे निकलेगा। हाँ क्या कहा ? तुम्हारा अपराध नहीं है ?

वसन्तसेना—शपथ से कह रही हूँ आचार्य···(**करुणा की सजीव मूर्ति बन जाती है**)

विष्णुगुप्त—सत्य में जिनका विश्वास है वे शपथ कभी नहीं लेते। फिर भी मैं जानता हूँ तुमसे अपराध कराया गया। डरो मत। स्त्री को दण्ड मैं नहीं देता···तुम्हें भी नहीं दूँगा।

वसन्तसेना—(**भय में**) जी···तब···

विष्णुगुप्त—अभी भय है तुम्हें···मेरा विश्वास नहीं है तुम्हें···(**हाथ से अभय की मुद्रा बनाना**)

वसन्तसेना—है···तो···(**संयत बनने की चेष्टा**)

विष्णुगुप्त—तब तुम पहले भय छोड़ो । तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं होगा ।

वसन्तसेना—मेरी देह में उस अम्बपाली का रक्त है जिसके अथिति तथागत भी बने थे ।

विष्णुगुप्त—जानता हूँ सुन्दरी ! लिच्छिवियों की उस उर्वशी का नाम सुन चुका हूँ जिसके रूप की लपट में वह संघ भी जल गया । वेश्या और वैभव राजनीति में प्रधान बन गये तथागत के श्रमण धर्म से और यहाँ शुद्र के राजा बनाने में भी वही धर्म था । अम्बपाली के रक्त की राजनीति भी तुम्हारे रक्त में होगी सुन्दरी ! महापद्म के सामने नहीं हो तुम···राक्षस भी नहीं हूँ मैं और न कात्यायन हूँ समझ रही हो ? एक बार धोखा हुआ बार बार नहीं होगा । कला और काम का रस तुम्हें लेना देना था । (**ध्यान से उसे देखते हैं । वह गनगना जाती है**)

वसन्तसेना—आचार्य से प्रगल्भ बनाना नहीं चाहती मैं लोक में जब तक कला और काम की भूख रहेगी हम रहेंगी । यह वसन्तसेना न रहे कोई कामसेना आयेगी । **मुस्कान की चेष्टा**)

चन्द्रगुप्त—(**क्रोध में**) वारांगना ! किससे कह रही हो यह सब ? (**आँखें तरेरकर**)

विष्णुगुप्त—(**रोककर**) क्रोध पराजय की पताका है प्रियदर्शन ! विजय की पताका धैर्य है । पाटली-पुत्र के राजन्यों और धन कुबेरों की लालसा है यह वसन्तसेना । इसकी शक्ति भी पहचानो । तुम्हारे अंगों की परीक्षा हो चुकी है वसन्तसेना । यह देखो मेरे हाथ के इस पत्रक में सिद्ध हो चुका है तुम विषकन्या हो । (**पत्रक रगेलकर हाथ में हिलाने लगते हैं**)

वसन्तसेना—पर वह परीक्षक इस पाटलीपुत्र का नहीं है ।

विष्णुगुप्त—विज्ञान किसी एक नगर देश का नहीं होता । प्रमाण से जो सिद्ध है वही विज्ञान है । अपनी इस कंचन काया के लिए, संगीत और नृत्य की कला के लिए सत्य कहो । तुम्हारे संकल्प में मुझे सन्देह

नहीं है । जिस साहस की कल्पना भी दूसरी रमणी न करेगी···वही तुमने कर दिखाया। निश्चय है उसके दण्ड के लिए भी तुम दृढ़ हो ।

वसन्तसेना—तब फिर मुझे दण्ड मिले । किसी दिन मरना होगा । आज-कल किसी दिन···मर कर मैं अपनी कला में जीती रहूँगी आचार्य ! अम्बपाली मर कर भी जी रही है अपनी कला में···

विष्णुगुप्त—(**हँसकर**) हा हा हा तुम्हारे अंग राजनीति के साधन जिस क्षण बने सुन्दरी ! तुम्हारी कला तभी मर गई । सोचो तो यवन-जयी पर्वतक की हत्या कर तुमने रूप और कला दोनों की हत्या की है । पाटलीपुत्र में तुम्हें तेजहीन विलासी मिले होंगे, पर पर्वतक सा वीर नहीं । अपनी कला के लिए तुम्हें उसकी रक्षा करनी थी । जिस क्षण वह तुम्हारा बना···तुम्हारे अनुराग की रागिनी जब उसके अन्तर में बजी···तुम्हें उसे अमर करना था । कला का धर्म क्या है ! मृत्यु या जीवन ?

वसन्तसेना—जीवन आचार्य···! (**उद्वेग का स्वर**)

विष्णुगुप्त—तब तुमने यह क्या किया । सोचकर कहो । पूछो अपने हृदय से वह क्या कह रहा है । वही कहो जो तुम्हारे हृदय से निकले । दूसरों के सिखाये शब्द तुम्हें बीच धार में डुबो देंगे । पार नहीं करेंगे ।

वसन्तसेना—महापद्म की बाहों में भूल चुकी थी मैं आचार्य ! (**दुःख की मुद्रा**)

विष्णुगुप्त—**जो जन्म से नाई···क्षत्रिय महानन्दिन की रानी से भी जिसकी तृष्णा न मिटी···उसके प्रति तुमने अपने धर्म का पालन किया··· पर पर्वतक जो वीर धर्म में अब तक ब्रह्मचारी रहा···जिसकी पहली और अन्तिम रमणी केवल तुम बनी··· (दायें हाथ की तर्जनी उठाकर)**

वसन्तसेना—क्या ? अब तक वे ब्रह्मचारी थे ? (**अवाक हो उठती है**)

विष्णुगुप्त—हाँ । अलिकसुन्दर के सैनिकों ने सिन्धु के दोनों किनारे इस अभागे देश की रमणियों के साथ जो जघन्य कर्म किया, उसने तब

तक उसे ब्रह्मचारी रखा जब तक देश भर की अबलाओं का धर्म उस विरागी ने यवनों को खदेड़ कर बचा नहीं लिया।

वसन्तसेना—हाय ! स्वीकार करती हूँ मैं अपना अपराध देव ! मैं विषकन्या हूँ। (**आँखों से आँसू के मोती चल पड़ते हैं।**)

चन्द्रगुप्त—और तुम मुझ पर कृपा करने आई थी सुन्दरी ! (**क्रोध और विस्मय की मुद्रा**)

वसन्तसेना—आपकी मैं दूसरी रमणी होती देव ! और तब अपना पाप इतने सीधे न मान लेती। ठीक है। आचार्य सच कह रहे हैं। काम कला में वे कोरे थे। किसी रमणी से पहले मिले होते तो कुछ तो पता होता उन्हें।

हेममाला—मोहिनी ! सम्भालो इसे···गिरी···गिरी ! (**गनगना कर धरती पर गिर पड़ती है।**)

वसन्तसेना—मेरी कला मर गई···रूपा जीवा का राजनीति से क्या काम ? बधभूमि···बधभूमि भेजें मुझे देव ! कब तक जलती रहूँगी इस अग्नि में। पैरों पड़ती हूँ मुझे मृत्यु दण्ड दें। (**हाथों से सिर पीटने लगती है**)

विष्णुगुप्त—किस के कहने से किया यह ? क्या तुम नाम बता दोगी ?

वसन्तसेना—हाँ नगर के तीन धनकुबेर···भिषग् पंचानन ·

विष्णुगुप्त—यह मैं जानता था। बिना वैश्य के वेश्या इस षड्यन्त्र में नहीं पड़ सकती। रोने से कुछ न होगा अब। ठहरो···(**वसन्तसेना सिसक रही है। दूसरे ही क्षण भूमि पर निश्चेष्ट लुढ़क जाती है**)

हेममाला—मूर्च्छा है उसे देव !···

विष्णुगुप्त—भेज रहा हूँ मैं चन्द्रसेन को। इसे विषकन्या जिसने सिद्ध किया वही इसका उपचार भी करे, जिस हाथ ने घाव किया लेप भी वही लगाये।

[**जाते जाते**]

दूर रहो मोहिनी ! इसे छूना मत । तक्षशिला में विष-विज्ञान की शिक्षा चन्द्रसेन को मिली थी । इसका रहस्य वही जानेगा । सुन लिया चन्द्र ! वैश्य और वेश्या इनका प्रबन्ध पहले करना है ।

परिवर्तन

(नेपथ्य में कोलाहल ···'आचार्य विष्णुगुप्त की जय ! महाराज चन्द्रगुप्त की जय !' स्थान वही । संस्थागार में चन्द्रगुप्त और हेममाला सिंहासन पर बैठे हैं । मोहिनी चँवर डुला रही है ।)

चन्द्रगुप्त—मोहिनी···

मोहिनी—कहें देव ।···

चन्द्रगुप्त—राजदूत मेगस्थनीज़ को बुलाओ !

हेममाला—वह वसन्तसेना भी आयेगी ।

चन्द्रगुप्त—हाँ राक्षस मन्त्री और वसन्तसेना···

हेममाला—और वे धन कुबेर···

चन्द्रगुप्त—कह नहीं सकता···आचार्य जो करें ।

हेममाला—वसन्तसेना अब विष से छूट चुकी है···अब वह विष-कन्या नहीं है ।

चन्द्रगुप्त—**(हँस कर)** तब कहो तो···**(उसकी ओर विनोद में देख कर)**

हेममाला—अब वह देव के योग्य है···कोई बाधा नही दूँगी मैं ।

चन्द्रगुप्त—पर वह मेरी दूसरी होगी···किसी की पहली है । अपना सारा धन दान कर दिया उसने···एक धुली धोती से देह ढँक कर वह गंगा तीर शिव के मन्दिर की फेरी में बैठी है ।

हेममाला—क्या···कहाँ बैठी है ?

चन्द्रगुप्त—अब वह मन्दिर का प्रसाद ग्रहण करेगी और गंगा स्नान···

हेममाला—अभी···?···उसकी कला···उसका रूप···**(विस्मय**

की मुद्रा)

(विष्णुगुप्त का प्रवेश)

हेममाला—प्रणाम आचार्य !

चन्द्रगुप्त—मेरा भी देव ।

विष्णुगुप्त—सुखी रहो ! देश भर में तुम्हारा एक छत्र रहे। महामन्त्री राक्षस आ रहे हैं !

चन्द्रगुप्त—यहाँ···पर किस लिए आचार्य ?

विष्णुगुप्त—आ गये राजदूत ! बैठो । तुम्हारे यवन देश में जो संभव नहीं आज यहाँ देखो । राक्षस का सम्मान करना है प्रियदर्शन !

चन्द्रगुप्त—पर किस तरह ? **(विस्मय में देखता है)**

विष्णुगुप्त—तुम राजपुत्री के साथ उसका स्वागत करोगे ।

चन्द्रगुप्त—शूद्र-मन्त्री का ? **(कठोर स्वर में)**

विष्णुगुप्त—शूद्र मन्त्री ?···राक्षस शूद्र हैं ? **(अपलक चन्द्रगुप्त की ओर देख कर)**

चन्द्रगुप्त—शूद्र नन्द के मन्त्री रह चुके हैं । उनके पकड़े जाने से आशा हुई कि पाप का यह घड़ा आज फूटेगा । वध-स्तम्भ पर उसे अब तक झूलना था और अब मैं उसका स्वागत करूँ ?

विष्णुगुप्त—नीति और धर्म में राक्षस का जोड़ कहीं नहीं है। शत्रु के गुण भी मानते हैं ।

मेगस्थनीज—आचार्य के निर्णय में शंका नहीं···

हेममाला—मैं भी यही कहूँगी···

चन्द्रगुप्त—उसका विश्वास·· साँप और आग से दूर रहते हैं ।

विष्णुगुप्त—साँप में मणि है और अग्नि देवों का पुरोहित है। पर्वतक के तेज मे उसी अग्नि का वास था और वसन्तसेना के रूप में भी वही था ।

हेममाला—ऐं ! आचार्य वसन्तसेना नहीं अब···

विष्णुगुप्त—अब तक न होती पर मैंने रोक दिया । रूप की मोहिनी

उसकी चली गई···

हेममाला—कैसे क्या हुआ ? (**उत्सुक मुद्रा**)

विष्णुगुप्त—सब जान जाओगी, अभी रुको। कहाँ है दण्ड नायक ?

मोहिनी—कहते हैं महामात्य राक्षस आये हैं।

विष्णुगुप्त—आगे बढ़ो चन्द्र ! मेरी बातों में विश्वास करो। (**चन्द्रगुप्त हेममाला के साथ स्वागत के भाव में आगे बढ़ता है**)

राक्षस—(**प्रवेश कर**) चाणक्य ! दुर्भाग्य से परिहास नहीं करते। बधस्तम्भ से तुमने मुझे उतारा। यहाँ राजदम्पति से मेरा स्वागत करा रहे हो !

विष्णुगुप्त—भाग्य से परिहास सभी करते हैं महामात्य ! कोई ऐसा भी तो हो जो दुर्भाग्य से परिहास करे।

राक्षस—तो अभी मैं महामात्य हूँ ? (**ध्यान से विष्णुगुप्त को देख कर**)

विष्णुगुप्त—तुम्हारा यह पद मैंने नहीं छीना। शूद्र के मन्त्री बनने में तुम्हारी प्रतिष्ठा नहीं थी। क्षत्रिय के मन्त्री बनो और हाँ बैठो इस आसन पर। मन्त्री के इस आसन से तुम परिचित हो—(**हाथ पकड़ कर बैठाते है**)

राक्षस—हाँ···हाँ बल का प्रयोग नहीं ! पहले यह कहो कि इस चक्र में तुम क्यों पड़े ? तुम्हें इस युग का ऋषि बनना था।

विष्णुगुप्त—फिर बनूँगा। पर तुम्हारी सहायता से।

राक्षस—किस तरह ? (**कठोर स्वर में**)

विष्णुगुप्त—देखो यह मानचित्र। अलिकसुन्दर के इन सभी युद्धों में मैं दर्शक था। यहाँ अँधेरी रात में चोरी से उसने वितस्ता पार किया यहाँ पुरु का अकेला पुत्र···बीस वर्ष की आयु में महा समुद्र की लहरों में नौका सा डूबा था।

राक्षस—तुम तक्षशिला में थे जब आम्भी ने देश के साथ द्रोह किया···जब वह उस यवन से मिलकर पुरु पर चढ़ दौड़ा ?

विष्णुगुप्त—स्वार्थ और सत्ता का लोभ·· सारे उत्तरा पथ का छोटे-छोटे राज्यों और संघों में बँटा होना । अरिस्तातल के मन्त्र में मकदन का नगर राज्य फैल कर विपाशा तक पहुँच गया । क्षयार्ष की जिस सेना में हमारे देश के धनुर्धर एथेन्स की दीवारों से टकराये थे वही सेना दारायवहु की विलासिता में रुई सी उड़ गई ।

राक्षस—तब कहो तुम अरिस्तातल बने ··

विष्णुगुप्त—हाँ तक्षशिला में त्रयी विद्या की साधना छोड़ कर मैं राजनीति में कूदा । अलिकसुन्दर के साम्राज्य से भी बड़े भारतीय साम्राज्य का स्वप्न मैं देखने लगा मन्त्री ! यश का स्वप्न भी बुरा नहीं होता ।

राक्षस—पर्वतक और महाराज चन्द्रगुप्त को आगे कर तुम्हारे यवन विग्रह की बात मैं जानता हूँ ।

विष्णुगुप्त—देश का भाग्य फूटा था नहीं तो क्या उसी रात पानी बरसने को था । कीचड़ और दलदल में पुरु के रथ धँस गये । यवनों के कई सेनापतियों को मार कर महावीर धरती पर गिरा था ।

राक्षस—जानता हूँ सब । पाटली-पुत्र पर तुम क्यों आये ? क्षत्रियों का अनाचार तुम ने ब्राह्मण होकर कैसे भुला दिया ?

विष्णुगुप्त—भूल रहे हो मन्त्री ! देश ब्राह्मण और क्षत्रिय से बड़ा है । जिस धर्म की बात तुम कह रहे हो वह इस देश के लिए था । विदेशियों के पैरों तले वहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय एक ही साथ पिस गये । यवनों ने सब जाति की कन्याओं का अपहरण किया···इन आँखों ने कितना देखा, और कानों ने कितना सुना···तुमने देखा और सुना होता तो ब्राह्मण और क्षत्रिय का द्रोह भूल कर चारों वर्णों का धर्म सारे देश का धर्म देखते । कठों के संगल दुर्ग को धरती पर जब यवन गिरा रहे थे मेरी आँखें देख रही थीं ।

राक्षस—मैं वह भी सुन चुका हूँ कि अपने चर समूह से तुमने उसकी सेना में यह प्रचार करा दिया कि महापद्म की सेना में देवता

लड़ते हैं—किसी की आठ बाहें हैं और किसी का वाहन सिंह है, किसी का गरुड़, किसी का मयूर, किसी का मूषक।

विष्णुगुप्त—विजयी इन बातों पर विश्वास न कर सका पर उसके सैनिक हिल गये और विपाशा के इस पार आने का साहस उन्हें न हुआ। जिस के इस किनारे तुम्हारी हाथियों की पंक्ति को उन्होंने प्रलय का मेघ समझा। विजयी इस विजय का यश ले कर न जाये। मेरे सारे यत्न निष्फल गये, इस लिए कि उधर के राज्य संघ एक मत न हो सके। आपस की डाह उस उद्धत यवन से विजय न छीन सकी।

मेगस्थनीज—मैं यहां से चला जाऊँ आचार्य ! अपनी जाति की निन्दा कोई नहीं सुनना चाहता।

विष्णुगुप्त—इसी लिए तो तुम्हारी राज्यपुत्री हमारी महारानी हैं जिससे तुम्हारी जाति से इस देश का द्रोह सदैव के लिए मिट जाय, फिर भी यवनों का आक्रमण न होता तो यह देश कुम्भकर्ण की नींद सोता ही रहता।

मेगस्थनीज—इस देश का नाम तो मैंने कभी नहीं सुना है।

राक्षस—(**हंस कर**) राजदूत ! यह एक पुरुष था-बड़ा बली जो छः महीने सोता था और छः महीने जागता था।

मेगस्थनीज—ऐसा···ऐं ··।

(**हेममाला हँसती है**)

विष्णुगुप्त—शिवि अपनी वीरता की उमंग में यवनों की सेना के सामने लाठी लेकर जूझ पड़े। अग्रश्रेणी जब उन्हें न रोक पाये अपने घरों में आग लगा कर बालकों और अबलाओं के साथ जल मरे। पर स्वतन्त्रता न छोड़ी उन्होंने। मालव खेतों में काम कर रहे थे जब विजयी की सेना उन पर टूटी। फिर भी मालव दुर्ग पर अलिकसुन्दर को जो चोट आई उसी से बाबुल में वह मरा था। वहाँ क्रोध में यवनों ने बच्चों और अबलाओं का वध किया। अम्बष्ट और मुषिक संघ में जितने ब्राह्मण मारे गये उन्हें तुम देखते मन्त्री ! तो इस देश के क्षत्रिय तुम्हें

भूल जाते ।

वसन्तसेना (प्रवेश कर) प्रणाम महामन्त्री । अहो भाग्य ! आपके दर्शन यहाँ हो रहे हैं । यहाँ आने से पहले कहीं इतना (**घृणा में**) पानी नहीं था जिसमें आप डूब मरते ?

राक्षस—अपनी मृत्यु में भी मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ वसन्तसेना । चाणक्य ने मुझे बध स्तम्भ से उतार लिया ।

वसन्तसेना—किसका नाम है यह ?

विष्णुगुप्त—मंत्री राक्षस ने मुझे चाणक्य और कौटिल्य दो नाम दिए है । मगध की सीमा के बाहर भी इनका दिया मेरा नाम सब ओर फैल चुका है ।

राक्षस—फिर भी मेरे नाम से तो दोनों ही अच्छे हैं । किस ब्राह्मण का नाम कब राक्षस था ?

विष्णुगुप्त—इन बातों में कुछ नहीं है मन्त्री ! तुम्हारे दिए दोनों नाम मैं सिर और आँखों से स्वीकार करता हूँ । 'सर्वक्षत्रान्तक' होकर भी नन्दराज देश में घृणा का पात्र रहा । उसके वंशज भी कुछ अधिक यश नहीं लेते । अब कहो मेरा प्रस्ताव स्वीकार है ? तुम सरीखे मन्त्री के बल से सारा देश एक सूत्र में बँधेगा और फिर किसी विदेशी का साहस नहीं होगा कि इस धरती पर पैर धरे ।

राक्षस—मेरी बुद्धि में तुम्हें अभी भी विश्वास है ? तुम्हारे सामने मेरी बुद्धि अब पानी भरेगी ।

वसन्तसेना—ठीक तो है महामन्त्री···तुम अपने आसन पर फिर बैठे । पर इस चक्र में डाल कर तुमने मुझे कहीं का न छोड़ा···यह हृदय फट जाता और तुम इसके भीतर देख पाते

विष्णुगुप्त—फिर वही···मेरे इतने समझाने पर ! यदि सचमुच पर्वतक पर तुम्हारा अनुराग है तो उसके अधूरे काम को तुम पूरा करो ।

वसन्तसेना—अभी भी मैं किसी के काम की हूँ ?

विष्णुगुप्त—किसी दूसरे के काम की नहीं कुमार पर्वतक के···

राक्षस—वे कुमार थे ?

विष्णुगुप्त—अखण्ड ब्रह्मचारी । यवनों का संकट टालने के लिए महाव्रत लिया था उस महावीर ने···और जब उसे सिद्धि मिली, वह चला गया। उसका काम अब केवल दो व्यक्ति कर सकते हैं । मन्त्री राक्षस और वसन्तसेना जिसे जीवन में पहली बार उसने अपना हृदय दिया।

वसन्तसेना—हाय ! कहें आचार्य मैं करूँगी ? (**सिसकने लगती है**)

विष्णुगुप्त—गंगा में डूबने तो न जाओगी अब···

वसन्तसेना—नहीं। यदि जानती कि उनके काम मैं अभी आ सकती हूँ तो डूबने न जाती । पर मैं रहूँगी कहाँ···कितनी उँगलियाँ उठेंगीं मुझ पर · ?

विष्णुगुप्त—अग्नि में तपे सोने की तरह यह शुद्ध है राजपुत्री ! आप इसे शरण देंगी।

वसन्तसेना—और जो मैं आपकी सेवा में रहना चाहूँ आचार्य !

विष्णुगुप्त—रह सकती हो बेटी ! पर तुम्हें वहाँ कष्ट होगा। नन्दराज की आँखों की पुतली राजभवन में रहे ! मेरी कुटी में कुश की चटाई और ··

वसन्तसेना—मुझे वही चाहिए···

राक्षस—तुम्हारे प्रभाव से इस वारांगना का उद्धार हुआ, मैं भी तुम्हारी आज्ञा मान लूंगा पर जब उस वैद्य और उन वणिकों को मुक्त कर दो। तुम्हारी क्षमा सब ओर समान रहे ।

विष्णुगुप्त—अभी···प्रतिहारी ! कह दो दण्डनायक इन्हें मुक्त कर दें। पर मन्त्री ! भविष्य में इस देश की राजनीति में वेश्या और वैश्य को फिर अवसर न मिले।

राक्षस—तक्षशिला के आचार्य विष्णुगुप्त इसके लिए विधान बना दें।

विष्णुगुप्त—राज्य का भार तुम वहन करो । युग के अनुसार मैं स्मृति तो नहीं, व्यवहार शास्त्र का निर्माण करूँगा। अर्थ शास्त्र, जिसमें

अर्थ का उपार्जन वैश्य करेगा पर अर्थ पर अधिकार रहेगा राष्ट्र का। वैश्य की सम्पति पर लाभ में आधा भाग राजा का होगा। वैश्य अपने मन से दान और धर्म भी न कर सकेगा···उसमें भी उसे राज्य मन्त्री से आदेश लेना होगा।

मेगस्थनीज़—धर्म और दान में भी···

विष्णुगुप्त—निश्चय···नहीं तो धर्म और दान की आड़ में वह लोक को ठगेगा। प्रियदर्शन! महारानी के साथ तुम इन्हें मन्त्री के आसन पर बैठाओ। तुम चलो मेरे साथ वसन्तसेना। गंगा के उस पार वन में हमारी कुटी बनेगी···।

आचार्य शंकर

[अद्वैत वेदान्त के सूर्य आचार्य शंकराचार्य के जीवन चरित का नाटकीय चित्रण ।]

पात्र-सूची

शंकर—	अद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक ।
विशिष्ठा—	शंकर की जननी ।
राजशेखर—	केरल नरेश ।
केरल मन्त्री—	
कुमारिल भट्ट—	प्रसिद्ध मीमांसक ।
सुरेश्वर—	पूर्व के मण्डन मिश्र, फिर शंकर के शिष्य ।
पद्मपाद—	शंकर के शिष्य ।
भारती—	मीमांसक मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी ।
शिवसोम—	चम्पा द्वीप के राजदूत आदि ।

(दूर के शिव मन्दिर में घंटे और शंख बजने की धीमी ध्वनि सुनाई पड़ती है । शंकर का घर । घर के द्वार पर शंकर की माता विशिष्ठा खड़ी हैं । केरल मन्त्री अपने तीन सेवकों के साथ प्रवेश करते हैं । सेवकों को सामने के पीपल के पेड़ की छाया में बैठने का संकेत करते हैं। वे पेड़ की छाया में चले जाते हैं।)

विशिष्ठा—आइए राजमन्त्री ! पधारिए। कहिए, कैसे कष्ट किया आपने ?

मन्त्री—प्रणाम भगवती ! कहाँ हैं आपके ब्रह्मचारी पुत्र। **(दोनों हाथ जोड़कर)**

विशिष्ठा—**(खेद की हँसी)** शंकर की बात पूछ रहे हैं ? वह अब ब्रह्मचारी ही नहीं है। आइए यहाँ भीतर

(सामने के कमरे में मन्त्री काठ की चौकी पर बैठते हैं । विशिष्ठा नीचे कुश की चटाई पर बैठ जाती हैं।)

मन्त्री—**(उत्सुक होकर)** तो क्या आपने अभी उनका विवाह कर दिया ?

विशिष्ठा—**(दुख के स्वर में)** किसका विवाह ? शंकर का ? आठ वर्ष की अवस्था में ही जो संन्यासी बन रहा है ?

मन्त्री—संन्यासी बन रहे हैं ? अभी इसी अवस्था में ?

विशिष्ठा—क्या कहूँ मैं?मैं तो यह भी नहीं जानती कि वह कब का संन्यासी बन चुका है । वेष उसका अभी भी ब्रह्मचारी का है पर मन कभी का संन्यासी हो चुका है। यह आयु सचमुच संन्यासी बनने की नहीं है। आप भी जानते हैं माता का हृदय अपने जीते जी पुत्र को संन्यासी होने नहीं देना चाहता। मुझे तो अकेला यही शंकर, न कोई दूसरा पुत्र, न पुत्री। वह भी अन्धे की लकड़ी की तरह पूरे पाँच वर्ष की तपस्या के बाद भगवान भूतनाथ ने दिया था। किया होगा कोई पाप उस जन्म में, जिसके फल से आठ वर्ष का पुत्र आज यह घर छोड़ देगा।

मन्त्री—तो वह आज चले जायेंगे भगवती !

विशिष्ठा—हाँ, सब कुछ निश्चित हो चुका है। सन्ध्या को जब एक घड़ी दिन रहेगा, शंकर उत्तर की ओर चल पड़ेगा।

मन्त्री—इसी आयु में आपके पुत्र का नाम समूचे केरल और दक्षिणापथ में फैल चुका है।···कुछ है उनमें ऐसा तभी तो। संसार में जन्म लेना और एक दिन मर जाना सब के लिए यही देखा जाता है। यश के शरीर से मृत्यु और काल दोनों पर राज्य करने वाले थोड़े होते हैं···बहुत थोड़े। आपके यशस्वी पुत्र उन्हीं में हैं। फिर भी आपके भरे कण्ठ और भीगी आँखों से मेरा हृदय काँप उठा···उन पर प्रभाव नही पड़ता इसका।

विशिष्ठा—सब कुछ कर के देख लिया, समझाया, बुझाया, दो वर्षों से आंखो के आँसू नहीं सूखे पर होनी कब कहाँ टली ? परसों की ही बात है मैंने अपने मुख से कह दिया उसे संन्यासी बनने के लिए।

मन्त्री—(**साँस रोककर**)—क्या क्या? कह दिया आपने अपने मुँह से ? विश्वास नहीं होता भगवती। माता के मुख से यह कैसे निकलेगा ? उनके संन्यास लेने पर आपका वंश डूब जायगा···यह तो आप जानती हैं ?

विशिष्ठा—परसों सवेरे जब हम दोनों अलवाई में स्नान करने गए, मैं नहा कर किनारे आ गयी; तब तक पानी में मेरा दुर्भाग्य ग्राह बन गया। मेरा मन तो यही कहता है कि वह मेरा अभाग्य था नहीं तो घुटने भर पानी में कब किसने ग्राह देखा है। इस अलवाई में तो ग्राह आने की बात कभी सुनी भी नहीं गई थी। हमारे कालटी में जो बड़े बूढ़े हैं, सौ वर्ष के उपर जिनकी आयु जा रही है, सब दाँतों तले अगुंली दाब रहे हैं। यही कहते हैं, कालटी में यह पहली बार ग्राह आया, पहले कभी नहीं।

मन्त्री—तो सचमुच ग्राह था भगवती ?

विशिष्ठा—हाँ देवता, ग्राह था, पूरे दस हाथ लम्बा। मेरी आँखों ने

जो धोखा न दिया हो तो दस हाथ से कम नहीं था । शंकर का दाँया पैर जाँघ तक उसके मुख में समा गया···'हाय माँ,' उसके मुँह से निकला ।

मन्त्री—हे भगवान, तब क्या हुआ ?

विशिष्ठा—मत पूछो, अहिल्या की तरह पत्थर हो गई थी मै···उपर की साँस उपर और नीचे की नीचे रह गयी । तब तक आकाश की ओर दोनों हाथ जोड़ कर उसने कहा--'नारायण ! इस बार जो इस काल से प्राण बचे तो मै संन्यास लेकर जगत के इस जाल को काटूँगा ।' मेरी ओर देख कर कहा···'माँ तुम भी भगवान शंकर से कहो, इस सकट से छूटने पर मुझे सुख से सन्यासी बनने दोगी ।' पुत्र का प्राण जा रहा था मन्त्री ! मैने भी कह दिया । तब तक कितने मछुए मे देख भी नहीं सकी कहाँ से हाथ में बाँस के लग्गे लिए पहुँच गए । शंकर को छोड़ कर ग्राह पानी में डूबा, और फिर किसी ने नहीं देखा वह कहाँ गया । कोस भर तक अलवाई का जल मछुओं ने छान डाला, पर वह ग्राह जैसे माया का बना था । किसी को उसकी परछाई भी नहीं देख पड़ी ।

मन्त्री--ऐसी घटनायें महापुरुषों के जीवन में बराबर घटी हैं । आपके शंकर भी महापुरुष हैं, यह बात तो अब सभी ओर फैल चुकी है ।

विशिष्ठा—होगा राजमन्त्री ! पर माता का सुख इसमें है क्या ? जिस आयु में लड़के आँचल के भीतर रहते हैं उसी में वह संन्यास ले रहा है । पति के मरने की अवस्था भी नहीं थी । पुत्र का मुँह देखकर जीती रही, वह भी अब छोड़ रहा है । (**सिसकने की ध्वनि**)

मन्त्री—नहीं भगवती ! जो आप रोयें तब तो सामने का यह वृष पर्वत भी रोयेगा । शंकर के विख्यात भक्त शैवध्वज शिवगुरु की पत्नी हैं आप···और आप के पुत्र भी ज्ञान में शुकदेव हैं । जानती होंगी आप··· आठ वर्ष के शुकदेव ने भागवत की कथा परीक्षित को सुनायी थी । कहते हैं जहाँ एक से एक बढ़कर ज्ञानी और वृद्ध ऋषि उपस्थित थे, सबकी

राय से शुकदेव को व्यास-पीठ दी गई थी। कहाँ गए हैं इस समय ?

विशिष्ठा—पर्वत पर चन्द्रमौलीश्वर के मन्दिर में अभी जो शंख बजी उसी की बजायी थी। पिछले दो वर्षों से महादेव पर सबसे पहले वही जल चढ़ाता है, तब दूसरे लोग चढ़ाते हैं। और क्या कहूँ, कुछ लोग तो ऐसे ···

मन्त्री—जी कहिए !

विशिष्ठा—क्या कहूँ · उसे अभी से लोग महादेव का अवतार कहने लगे हैं।

मन्त्री—कब आते हैं वे ?

विशिष्ठा—अब आता ही होगा। विसर्जन का शंख तो हम लोगों ने सुना।

मन्त्री—केरल नरेश का निमन्त्रण है उनके लिए भगवती !

विशिष्ठा—बुलाया है उसे महाराज राजशेखर ने ?

मन्त्री—हाँ भगवती ! महाराज ने सोने के पंचपात्र और पाँच सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ उनकी प्रतिष्ठा में भेज भी दिया है। बाहर मेरे भृत्य वासुदेव के नीचे बैठे हैं, उन्हीं के साथ यह सामग्री है वस्त्र और दूसरी सामग्री भी।

विशिष्ठा—पर वह स्वीकार नहीं करेगा मन्त्री ! मैं जानती हूँ उसे नहीं लेगा वह।

मन्त्री—कोई बात नहीं, आपके पास रख दूँगा मैं।

विशिष्ठा—मेरे पास उसकी इच्छा के विरुद्ध·· जिसका अकेला पुत्र जा रहा है···किस दूसरे धन की इच्छा होगी उसे मन्त्री ? आप भूल रहे हैं।

(नेपथ्य में श्लोक पढ़ने की ध्वनि)

आगया मंत्री ! **(ऊँची साँस)**

शंकर—**(प्रवेश कर)** अच्छा, तो आप यहाँ हैं औरों को बाहर छोड़ कर। ठीक है, इस छोटे घर में राजमन्त्री और उनके सेवकों के अँटने

का स्थान भी तो हो।

मन्त्री—प्रणाम भगवन ! जिस घर मे आपने जन्म लिया उसका विस्तार इस समूचे ससार से बडा है।

शंकर—कहिए, क्या सेवा करनी है मुझे ? अपनी प्रशसा अपने कान से सुनने का अभ्यास मेरा नही है।

मन्त्री—केरल नरेश ने आपसे प्रार्थना की है

शंकर—महाराज ने प्रार्थना की है किस बात की ?

मन्त्री—वे आपका दर्शन करना चाहते है।

शंकर—महाराज का अनुग्रह जो मुझे दर्शन देने की इच्छा उन्हे हुई।

मन्त्री—हे है ऐसा नही। वे आपका दर्शन करना चाहते है।

शंकर—तब वे यहाँ आये होते। बुला कर दर्शन दिया जाता है मन्त्री ! किया नही जाता। और फिर कह देगे आप महाराज से, वैराग्य का रस मिल जाने पर मन और कही नही रमता।

मन्त्री—तब वे स्वय आयेगे। तब तक जो कुछ उन्होने आपको भेट दी है **(जाने की आवाज)**

शंकर—माँ !

विशिष्ठा—**(भरे कण्ठ से)** हाँ कहो !

शंकर—राजमन्त्री के सामने रोती रही हो मेरी माता होकर ? ···मेरी माता जो जन्म का विरागी ··छिपाओ मत आँखो के जल की रेखा दोनों ओर बन गयी है।

विशिष्ठा—**(काँपते स्वर में)** तुम आज चले जाओगे, यह घर सब ओर से मुझे निगल जाना चाहेगा···कैसे रहूंगी। जिस की चिन्ता मे आठ वर्ष सवेरे जागते और रात सोते बीते वही नही रहेगा, मै यही रह जाऊंगी · इसी घर मे···इन्ही दीवारो के घेरे मे यही आँगन **(कण्ठ भर आता है)**

शंकर—सवेरे उठकर अलवाई मे नहाना और रात को कृष्ण की आरती कर सोना।

विशिष्ठा—कुछ नहीं करूँगी मैं अब शंकर ! अलवाई का स्नान, कृष्ण की पूजा तुम्हारे लिए थी। जिस मुक्ति के लिए तुम आठ वर्ष की अवस्था में संन्यास ले रहे हो, मुझे वह भी न चाहिए। (**साँस फूलने लगती है**)

शंकर—कृष्ण भगवान तुझे स्वप्न में मुक्ति देंगे।

विशिष्ठा—नहीं लूँगी बेटा ! मैं वह भी न लूँगी। उनसे कहूँगी, तुम्हारा ही रूप धर कर वह मेरे साथ इस घर में रहें, या जहाँ चाहें मुझे ले जायँ, पर उनका रूप तुम्हारा हो तभी··· (**सिसक उठती है**)

शंकर—ऐसी कातर बनोगी माँ ! तब तो संन्यास धर्म का निर्वाह कैसे होगा मुझसे ? मुझे भूल कर भगवान में मन लगाओ नहीं तो मैं समझूँगा तुम मेरी इस माटी की देह को प्रेम करती हो ··मेरे प्राण को नहीं।

विशिष्ठा—(**भय में**) यह भी कहोगे शंकर !

शंकर—क्यों नहीं। ग्राह ने मुझे तभी छोड़ा जब तुमने मेरा संन्यास लेना मान लिया · अपने संकल्प से तुम डिगोगी···तो क्या मेरा कल्याण होगा ?

मन्त्री—(**प्रवेश कर**) महाराज की भेंट स्वीकार करें आचार्य !

शंकर—इस आयु में कब कौन आचार्य बना है मन्त्री ! सुनकर लोग हँसेंगे कि मन्त्री की बुद्धि मारी गई है। आठ वर्ष के बालक को केरल मंत्री आचार्य कहें जैसे शास्त्रों की व्यवस्था वे नहीं जानते, नीति और धर्म का विधान उन्हें ज्ञात नहीं।

मन्त्री—क्या यह सच नहीं है कि आपको चारों वेद कंठस्थ हैं।

शंकर—(**हँसकर**) तब ?

मन्त्री—जिसके कण्ठ में वेद भगवान निवास करें उसकी अवस्था नहीं देखी जाती। आचार्य पद उसी का है जिसे वेद-मन्त्र सिद्ध हों। समूचे केरल के गुरु और ब्रह्मचारी जिसे आचार्य मान चुके हैं···केरल राज-मन्त्री उसे अन्यथा भी कैसे कर सकेगा। मैं तो वह दिन भी देख

रहा हूँ जब आज के आचार्य शंकर तब के भगवान शंकर बनेंगे । हाँ, अब कृपा कर यह भेंट स्वीकार कीजिये ।

(सोने के पात्रों और स्वर्ण-मुद्राओं को वस्त्र की झोली से निकालते हैं।)

शंकर—हा···हा हा···आज ही तो मुझे संन्यास के पथ पर चलना है और आज ही यह इतना सोना ग्रहण करूँ जो कलि का निवास है । परीक्षित ने कलि को टिकने के कौन से स्थान दिये थे ?

मन्त्री—कामिनी और कंचन और···

शंकर—(**हँसकर**) अभी आप एक लेकर आये । थोड़ी देर में दूसरी लेकर आयेंगे तब··· (**सबकी सम्मिलित हँसी**)

मन्त्री—अच्छी बात, तब मैं यह सब भगवती के चरणों पर ··

शंकर—क्यों नहीं ? जिससे इस घर पर चोरों की कृपा हो । केरल नरेश राजशेखर का सोना इस घर में सुरक्षित नहीं रहेगा राजमन्त्री ! इसे आप अपने साथ लेते जाइए । जब कभी मुझे इसका अभाव खलेगा··· धर्म के हित में जब इसकी उपयोगिता होगी···मैं माँग लूँगा महाराज से···तब तक इसे मेरी धरोहर मान कर रक्खें ।

(कई स्वर नेपथ्य में 'महाराज राजशेखर की जय···केरल महादेव की जय जय · जय · ')

विशिष्ठा—ऐं ! तो क्या महाराज स्वयं आ गए ? देखूँ तो **(प्रस्थान)**

मन्त्री—आप ठहरें भगवती । मैं जा रहा हूँ···**(प्रस्थान)**

शंकर—'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' छोड़ने वाले को संसार पकड़ना चाहता है और जो इसे छोड़ना नहीं चाहता उसे दूर फेंकता है ।

(केरल नरेश के साथ मन्त्री का प्रवेश)

मन्त्री—जय हो देव ! आप भगवती विशिष्ठा हैं···आचार्य शंकर की माता ।

राजशेखर—प्रणाम भगवती । आपके दर्शन से कृतार्थ हुआ ।

विशिष्ठा—प्रजा सुखी रहे महाराज···समय पर मेघ बरसे···धरती

अन्न और धन दे···विजय और श्री आपके दोनों ओर रहें । आपकी आँख में विष्ण की दया, ललाट में सूर्य का तेज और भुजाओं में शंकर का अंश हो । मन्त्री तो आये थे ही, आप स्वयं भी कष्ट कर यहाँ आ गये ।

राजशेखर—(**हँसकर**) कष्ट का विचार हो भगवती ! तब तो कोई तीर्थ पर न चले ।

विशिष्ठा—महाराज पैदल आये हैं, देख रही हूँ, हाथी, घोड़ा, शिविका कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ते ।

राजशेखर—तीर्थ-यात्रा पैदल की जाती है माँ ! कालटी भी अब केरल का तीर्थ बन रहा है । मन्त्री के चले आने पर मेरा मन इस भय में पड़ गया कि जो कहीं आचार्य न आए तब तो लोग कहेंगे कि प्रभुत्व के मद में मैंने विद्या का अनादर किया···और जो कहीं चले आए तब भी राजर्षियों का धर्म टूट जायगा । हैं कहाँ वह···भेंट हुई मन्त्री ?

मन्त्री—जी हाँ यहीं हैं । आपकी भेंट लौटाकर कहा है उनकी धरोहर बनाकर तब तक रखने के लिए, जब तक वे इसे फिर न माँगें ।

विशिष्ठा—ठीक ही तो कहा मन्त्री । आज ही संन्यास के लिए निकलना है जिसे वह इतना सोना लेकर क्या करेगा ।

राजशेखर—क्या कह रही हैं कहाँ जायेंगे ?

विशिष्ठा—व्यास के ब्रह्म सूत्रों के पण्डित गोविन्द भगवद्पाद जहाँ मिलें, कोई कहता है वे नर्मदा के तीर ओंकार पर्वत की गुफा मे हैं और कोई कहता है धुर उत्तर बद्रिकाश्रम में ।

राजशेखर—तब तो भगवती । जो मैं न आता उनके दर्शन नहीं मिलते ।

विशिष्ठा—एक घड़ी दिन रहते शंकर इस घर से निकल कर उत्तर का मार्ग लेगा ।

राजशेखर—आगे चलिए भगवती ! आप एक पल का विलंब भी ·· अब जितनी जल्दी दर्शन मिले आचार्य का !

विशिष्ठा—(**प्रवेश कर**) शंकर यह देखो, केरल नरेश स्वयं आ गए ।

शंकर—कोई नई बात नहीं है माँ···जैसे औढरदानी आशुतोष शंकर हैं वैसे ही उनके भक्त महाराज राजशेखर भी हैं। समूचा केरल इन्हें महादेव कहता भी तो है।

राजशेखर—प्रणाम करता हूँ आचार्य ! पैर इधर कीजिए उसकी धूल मस्तक पर धरूँ।

शंकर—मेरे पैर में धूल नहीं लगी है महाराज !

राजशेखर—सो तो मैं सुन चुका हूँ।

विशिष्ठा—क्या सुन चुके हैं देव ?

राजशेखर—यही कि ब्रह्मचारी शंकर के तलवे, एड़ी और उँगलियाँ बराबर कमल जैसे लाल बने रहते हैं। धूल कभी उन पर चढ़ती ही नहीं, चाहे वे धूल के अंबार में क्यों न पड़े रहें···

विशिष्ठा—धूल में लौट कर जब यह उठता था···हथेली और तलवे तब भी लाल रहते थे, धूल उन पर सटती ही नहीं थी।

राजशेखर—शंकर की तपस्या जो आप दम्पति ने की थी वही आचार्य के रूप में फली थी, कौन जाने इनमें उ हीं महादेव का अंश हो। पहले भी तो देवता अंश रूप में जगत में आ चुके हैं। मैं तो कहूँगा आचार्य पहले भट्ट कुमारिल से मिलकर मीमांसा और कर्मयोग का स्वरूप जान लें। यह अवस्था संन्यास की नहीं है।

शंकर—**(हँसकर)** आप नहीं जानते महाराज ! मेरी जन्म कुण्डली में अल्पायु योग पड़ा है। दधीचि और त्रितल जैसे केरल के दैवज्ञ बता चुके हैं मेरी माँ को।

विशिष्ठा—**(साँस रोककर)** कहाँ शंकर···कब ?

शंकर—**(हँसकर)** छिपाने से कुछ नहीं बनेगा। मैं सब जानता हूँ। पहले दधीचि आए, और जब उन्होंने आठवें और सोलहवें वर्ष में अरिष्ट और अंशतः मारकेश बताकर मृत संजीवनी और मृत्युञ्जय के अनुष्ठान के लिए कहा···सब कुछ मैं सनता रहा। सातवें दिन त्रितल ने यही कहा था। महीनों के लम्बे अनुष्ठान को भी मैंने देखा था। मेरे ही

हाथ संकल्प हुआ था । साठ दण्ड के समूचे दिन-रात में अखण्ड दीप जलते रहे । हर मन्त्र पर आहुति । बेचारे पुरोहित सूर्योदय से सूर्यास्त तक निराहार और निर्जल बैठे रहते थे । पर मृत्यु पर विजय अनुष्ठान से नहीं, संन्यास से मिलती है ।

राजशेखर—तब आप भी मृत्यु जीतने के लिए संन्यास का मार्ग ले रहे हैं । इसी फल के लिए इसी मार्ग पर चौदह सौ वर्ष पहले शाक्य मुनि भी चले थे । इस समय समूचे देश में भट्ट कुमारिल के कर्मकाण्ड का जयनाद हो रहा है । इसे न भूलियेगा आचार्य ! बुद्ध वाली बात अब न चलेगी ।

शंकर—(**हँसकर**) बुद्ध के बहुत पहले संन्यास का मार्ग प्रशस्त हो चुका था । ब्रह्मर्षि और राजर्षि दोनों इस मार्ग पर चल चुके थे । उसके बहुत बाद शाक्यसिंह ने जन्म लिया था । कुमारिल से मिलूँगा मैं पर जब मैं इस कार्य के योग्य बन लूँगा ।

राजशेखर—समझ नहीं रहा हूँ मैं ।

शंकर—पहले मुझे व्यास के ब्रह्मसूत्रों का अधिकारी बनना है जिसके अधिकारी अकेले गुरु गोविन्दपाद हैं । कहाँ हैं वे इस समय पर वे मिलेंगे, यह विश्वास है मुझे । नर्मदा के किनारे ओंकारेश्वर की गुफा में या बद्रिकाश्रम के समीप···जहाँ हों वे । पहले मुझे उन्हीं के चरणों में जाना है । अद्वैत मार्ग के एक मात्र आधार ब्रह्मसूत्रों को जानकर कुमारिल की मीमांसा को जानना चाहूँगा ! अद्वैत की आँच में जो भट्ट नायक टिक सकेंगे तब कोई दुराग्रह नहीं करूँगा मैं । पर मुझे देख पड़ रहा है देश और धर्म की रक्षा अद्वैत तत्व से ही संभव है । श्रमण धर्म पर भट्ट कुमारिल को विजय मिल चुकी है फिर भी ये जो पीले वस्त्र वाले एक कोटि से ऊपर बौद्ध श्रमण हैं ये क्या होंगे ?

राजशेखर—कोई उपाय सूझा है आपको इनके विषय का ?

शंकर—हाँ, यह संभव नहीं है कि इन सबको देश के बाहर खदेड़ दिया जाय या इन सबके रक्त से इस देश की धरती रँगी जाय । इनका

संस्कार करना होगा। वर्ण और आश्रम के बंधन में इन्हें फिर से लाना होगा।

राजशेखर—तब आपके संन्यास का लक्ष्य केवल अपनी मुक्ति नहीं, समूचे देश की मुक्ति है।

शंकर—अकेले अपनी मुक्ति की चिन्ता करने वाला स्वार्थी कहा जायगा महाराज ! ऐसा स्वार्थ मेरे लिए दारुण होगा। पश्चिम में यह जो नये धर्म की आँधी उठी है और सिन्धु की भूमि पर भी छा गयी है, वहाँ से आगे बढ़कर वह कब पुष्कर, प्रयाग और हरिद्वार पहुँचेगी। काशी और अयोध्या लांघकर कब विंध्य पार करेगी। नर्मदा, कावेरी, कृष्णा और गोदावरी किनारे के बड़े वृक्ष कब उसकी चपेट में गिरेंगे कोई नहीं जानता।

राजशेखर—तो आपका अर्थ दाहिर की पराजय और सिन्धु भूमि में इस नये धर्म के प्रवेश से है।

शंकर—जी, जहाँ इस धर्म ने जन्म लिया वहाँ भी शैव और बौद्ध थे। एक से एक बढ़कर मन्दिर और विहार उनके वहाँ भी थे। सिन्धु की भूमि तक आते-आते मार्ग के सभी भू-खण्डों में लाख-लाख मन्दिरों और विहारों को ढाह कर यह यवन धर्म सिन्धु तक पहुँचा है। अब आगे न बढ़े, इसके लिए हमें जाग उठना है।

विशिष्ठा—तब इसी लिए भगवान शंकर ने तुम्हें संन्यास लेने का स्वप्न दिया था।

शंकर—हाँ माँ, हो सकता है इसीलिए, पर स्वप्न मैंने देखा था। एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे में डमरू, जटाजूट में गंगा, ललाट पर चन्द्रमा, कंठ में सर्प। नीलकंठ का वह रूप जो स्वप्न में देखा. इस समय भी देख रहा हूँ।

राजशेखर—**(भय में)** जय हो आपकी आचार्य ! पर कृपा कर रुद्र की इन मुद्राओं को अपनी आकृति से अलग कीजिए।

शंकर—डर गए महाराज ?

राजशेखर—डर गया मैं, यह कहने में मुझे संकोच नहीं है। यह मेरे मन्त्री ब्राह्मण होकर भी अभी काँप रहे हैं, और भगवती ने भी सिर नीचे कर लिया है। आज्ञा हो तो कुछ निवेदन करूँ।

शंकर—हाँ हाँ कहें निर्भय और निस्संकोच ··

राजशेखर—सुनते हैं भगवती के कष्ट से द्रवित होकर आपने अलवाई की धार पलट दी।

शंकर—**(हँसकर)** यह कुछ नहीं जानता मैं, माँ को नित्य दूर जाना पड़ता था स्नान के लिए। एक दिन वे रास्ते में तीन जगह गिर पड़ीं। रात भर भगवान कृष्ण का ध्यान किया था मैंने इसी भाव से कि वे माता का कष्ट हरें। आधी रात के बाद जल बरसने लगा। अलवाई में पानी बढ़कर यहाँ तक आ गया और तब से यहीं प्रधान धारा बन गई। उधर की भूमि पानी से छूट गई।

राजशेखर—और कृष्ण की मूर्ति आप कैसे उठा लाये मन्दिर से ?

शंकर—गोपाल ने स्वप्न में कहा था अलवाई मन्दिर काट कर गिरा देगी, मेरी मूर्ति को बचा लेना। नींद खुली अभी दो घड़ी रात थी। आँख मलते मैं मन्दिर में पहुँच गया और मूर्ति लेकर टीले के अक्षयबट के नीचे रख दिया।

विशिष्ठा—सूर्य अभी आकाश के बीच में भी नहीं पहुँचा था, मन्दिर एक ही बार धायँ से अलवाई के पेट में समा गया।

मन्त्री—**(विस्मय में)** उसी दिन भगवती ?

विशिष्ठा—हाँ, उसी दिन !

राजशेखर—आचार्य आज चले जायँगे केरल की भूमि अनाथ हो जायगी। मैं ऐसा भाग्यहीन हूँ कि मेरी दक्षिणा भी नहीं स्वीकार हुई।

शंकर—इस दक्षिणा को आप मेरी धरोहर के रूप में रखिएगा।

राजशेखर—संन्यासी की धरोहर · इसका ब्याज बढ़ जाएगा आचार्य तब···

शंकर—**(हँस कर)** इसीलिए तो रख रहा हूँ कि किसी दिन धर्म

के नाम पर आवश्यक हो तो आपका समूचा कोष माँग लूँ ।

राजशेखर—उसके लिए सदैव तत्पर रहूँगा आचार्य ! वचन देता हूँ ।

शंकर—अपने संकल्प में सफल होकर जो मै यहाँ लौटा···

राजशेखर—यह दास आपके मार्ग में पलकें बिछाएगा आचार्य ? आपकी सम्मति के लिए अपने लिखे मे तीन नाटक ले आया हूँ पर समय कहाँ है···?

शंकर—क्यों ! अभी दोपहर में भी देर है, तब तक आप यहीं आतिथ्य स्वीकार करें । जाने के पहले आपके नाटकों को देख लूँगा मैं ।

विशिष्ठा—केरल नरेश के सामने संन्यासी पुत्र से मेरी भी कुछ कामना है ।

शंकर—तो फिर कह दो । कोई भी एक कामना जो चाहो मै पूरी करूँगा । पर एक दूसरी नहीं । **(गम्भीर मुद्रा में देखते हैं)**

मन्त्री—**(धीमे स्वर में)** जो कही भगवती विवाह करने को कहें ?

विशिष्ठा—ऐसे कह गए मन्त्री जैसे कोई दूसरा न सुने । पर अब जो बात मैं अपने से ही हार गई उसे फिर न लौटाऊँगी । मेरी कामना दूसरी है ।

शंकर—देर न करो माँ । जब तक न कहोगी मै साँस भी न लूँगा ।

विशिष्ठा—केरल नरेश साक्षी रहें । मेरे अन्त समय में जब प्राण इस देह को छोड़ने लगें मेरा संन्यासी पुत्र·· मेरी आँखों के सामने रहे । मेरा दाहकर्म तुम्हारे हाथों हो शंकर ।

शंकर—स्वीकार है मुझे यह । संन्यास धर्म की इतनी अवहेलना होगी मुझ से ।

राजशेखर—माता पृथ्वी से बड़ी होती है···संन्यासी के लिए भी ।

परिवर्तन

(प्रयाग का त्रिवेणी तट, गंगा के धारा-प्रवाह का स्वर)

नेपथ्य में—सुनें, त्रिवेणी-तट के सभी पण्डित, ब्रह्मचारी और गृही

सुनें। मीमाँसा के अवतार, वेद और कर्मकाण्ड के विजयी सेनानी स्वामि कार्तिक के अंश रूप भगवान कुमारिल तुषानल में योग बुद्धि से दग्ध हो रहें हैं। भारत खण्ड के इस ज्ञान-सूर्य के दर्शन का पुण्य जिसे लेना हो ले ले नहीं तो उनके पंचभूत शरीर का दर्शन फिर किसी को न मिलेगा, और यशः शरीर के देखने वाले बहुत थोड़े होंगे।

शंकर—कैसी घोषणा हो रही है पद्मपाद ! ध्यान से कान लगा कर सुनो।

पद्मपाद—ऐं, भट्ट कुमारिल तुषानल में जल रहे हैं ?

शंकर—क्या कह रहे हो ? भट्ट कुमारिल जल रहे हैं तुषानल में ?

पद्मपाद—हाँ आचार्य ! सब ओर से यही ध्वनि आ रही है। धरती से, आकाश से, गंगा और यमुना के जल से, सब ओर से यही ध्वनि··· भट्ट कुमारिल जल रहे हैं तुषानल में।

शंकर—बढ़ो पद्मपाद, जल्दी करो।

पद्मपाद—शिष्यों को जुटने दीजिए।

शंकर—दो सौ शिष्य जब तक जुटेंगे सम्भव है भगवान कुमारिल का शरीर पात हो जाय। चलो···जल्दी करो। आते रहेंगे सब पीछे। दौड़ कर अंजली में गंगाजल ले आओ। मेरे सिर पर गिराओ, और अपने सिर पर भी। और तब हम विद्या के इस अगाध समुद्र का दर्शन करें।

पद्मपाद—देखिए आचार्य ! जहाँ धूम उठ रहा है, सब ओर से लोग घेरे खड़े हैं, भट्ट कुमारिल वहीं हैं। पूर्व की ओर सटकर गंगा जल से अभिषेक कर तब पूर्व की ओर से लोग भगवान कुमारिल का दर्शन करें। हाँ, लीजिए यह जल (**जल गिरने की ध्वनि**)

शंकर—विस्मय है, कटि के नीचे का शरीर जल चुका है, फिर भी आकृति पर ऐसी विलक्षण शान्ति, धैर्य और निष्ठा की महिमा, मुख पर स्वेद बिन्दु जैसे कमल पर ओस के कण हों।

पद्मपाद—इधर से, इधर से आचार्य इधर से समीप पहुँच

सकेंगे।

(शंकर पद्मपाद के साथ कुमारिल के निकट खड़े होते हैं।)

शंकर—गोविन्द भगवद् पाद का शिष्य शंकर आपको प्रणाम करता है भगवान् !

कुमारिल—(**हँसकर**) तुम आगए शंकर आठ वर्ष से तुम्हारी कथाएँ सुनता रहा हूँ। कालटी से जब तुमने प्रस्थान किया, नर्मदा के तीर पर ओंकार की भूमि में गोविन्द से तुम्हारा परिचय और व्यास सूत्रों का अध्ययन। वहाँ से काशी और फिर उत्तर काशी के बन-पर्वतों में तुम्हारे यश का प्रवाह अच्छा किया जो आ गए, नहीं तो तुम्हारे दर्शन का अवसर मुझे न मिलता।

शंकर—पर यह हो क्या रहा है भगवान्! अग्नि में जल कर किस पाप का प्रायश्चित आप कर रहे हैं ?

कुमारिल—कुछ न पूछो पुत्र ! मुझे अपना मुँह भर देखने दो जिसे देख कर मेरे मन को शाँति मिल रही है।

शंकर—आदेश हो·· इस अग्नि से निकाल कर मैं आपका उपचार करूँ।

कुमारिल—मेरा समय अब आ गया है शंकर। अपनी इच्छा से मैंने इस अग्नि में प्रवेश किया। मनुष्य का शरीर लेकर अपराध किससे नहीं होते फिर भी मैंने वेद और मीमांसा दर्शन के प्रचार के लिए जो किया उसमें मेरा अपना कोई स्वार्थ और मोह नहीं था।

शंकर—आपसे भी अपराध हुए होंगें. इसका विश्वास मुझे नहीं है। ऐसा होता तो आपके इतने शिष्यों की आँखों से जल का प्रवाह न चलता।

पद्मपाद—आचार्य के शिष्य ही नहीं, यहाँ के समवेत सभी नर-नारी, बालक-वृद्ध रो रहे हैं।

कुमारिल—अरे सुनते हो शंकर के अवतार इस संन्यासी शंकर की पूजा करो।

शंकर—जैसी आज्ञा । पर इस स्थान से हटने का आदेश मुझे न दें ।

कुमारिल—तुम यहीं भिक्षा ग्रहण करो वत्स ! साथ में कितने शिष्य हैं ?

पद्मपाद—दो सौ आचार्य !

कुमारिल—अभी और बढ़ने हैं क्या ?

शंकर—हाँ आचार्य ! देश भर के सौगतों की संख्या कितनी होगी ?

कुमारिल—केवल देशी या अनार्य विदेशी भी जो अपने देशों के हीन आचारों के साथ बौद्ध बिहारों में जम गए, जो मन्दिरों में मेद का दीपक जलाते हैं मांस, मज्जा, मदिरा जिनके पूजा की प्रधान सामग्री है ?

शंकर—इस समय तो देशी विदेशी सब एक हैं आचार्य ।

कुमारिल—तो उनकी संख्या एक कोटि से कम न होगी जो देश भर के मन्दिर, बिहार और पर्वत-गुहाओं में गिने जायँ ।

शंकर—तब मेरे शिष्यों की संख्या कम से कम इतनी तो होगी ।

कुमारिल—तुम्हारा अभिप्राय ?

शंकर—मैं इन सबको अपना शिष्य बनाऊँगा ।

कुमारिल—अर्थात् जन्म भर के मेरे किये कराये पर पानी फेरोगे । ये वाममार्गी अब तुम्हारी छाया में फूले फलेंगे जिनकी जड़ मैं बराबर उखाड़ता रहा ? उस उखड़ी जड़ को तुम फिर धरती के भीतर रोपोगे ?

शंकर—अच्छा तो कदाचित आपको भी भ्रम है कि मैं इन सौगतों का सहायक हूँ ।

कुमारिल—(**हँसकर**) बुद्ध तेंतीस वर्ष की अवस्था में संन्यासी हुए थे और तुम आठ वर्ष में ही बन गए ।

शंकर—यह आधार आपको सन्देह करने का है । पर मैं तो आपको धर्म-विरोधी सौगतों के विनाश करने वाले साक्षात् कार्तिकेय का

अवतार मानता हूँ ।

कुमारिल—तब फिर इस मायावाद का प्रचार तुम क्यों कर रहे हो ? वेदों में कर्मवाद है कि मायावाद ?

शंकर—अद्वैत दर्शन का प्रचारक होकर भी लोक को कर्म से विमुख न करूँगा । आपके सिद्धान्त जिनके बल से वेद विरोधियों की जड़ उखड़ी, मेरी पद्धति में भी आ जायँगे । पर समस्या है इन वाममार्गी भिक्षुओं की । इतनी बड़ी संख्या इनकी कहाँ जाएगी, क्या होगी ?

कुमारिल—क्यों, इसमें कठिनाई क्या है ? वेद और कर्म-सिद्धान्त का ज्यों-ज्यों प्रचार होता जायगा ··

शंकर—ये छिप कर समाज के शरीर में रोग की तरह फैलते रहेंगे । इनको फिर से खींचना होगा आचार्य ! वैदिक विधि में जिसमें सभी धर्म और समाज के उपयोगी अंग बन सकें । पीले वस्त्रों में जिनका अधिक अनुराग होगा उन्हें संन्यास की दीक्षा देकर मैं अपनी सेना में मिला लूँगा ।

कुमारिल—तुम्हारी कोई सेना होगी ?

शंकर—हां, धर्म की सेना, जिसका हर सैनिक धर्म के युद्ध में खेत रहने का संकल्प लेगा । अब तक जो वाममार्ग में पथ-भ्रष्ट रहे हैं वही धर्म के युद्ध में आगे रहेंगे ।

कुमारिल—किस युद्ध की बात तुम कर रहे हो स्वामी !

शंकर—सिन्धु की भूमि की आज क्या दशा है । बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, कापालिक और तांत्रिक कहाँ हैं आज वहाँ । पच्छिम की मरू भूमि का यवन धर्म सबको निगलता चला आ रहा है । हमें अब अपना घर संभालना है नहीं तो हमारी भी वही दशा होगी ।

कुमारिल—तुम सबको मिलाकर कोई नया धर्म चलाओगे, जिसमें वाममार्गी और कापालिक भी रहेंगे । उग्र भैरव और वक्रतुण्डी भी मिलेंगे ।

शंकर—समूचे देश में जितने मत हैं, जिन देवी देवताओं की उपासना

है उनका संस्कार कर, स्मार्त उपासना की निधि चलाऊँगा मैं जिसमें हमारे अपने ही अंग परस्पर शत्रु न रहें।

कुमारिल—आशीर्वाद है मेरा, तुम्हारी विजय हो, पर कहीं अद्वैत दर्शन में वेद और मीमांसा की जड़ न हिले।

शंकर—कह दिया आप से···अद्वैत उपासक होकर मैं सभी देवी-देवताओं के स्तोत्र लिखूँगा, सबकी उपासना करूँगा। तन्त्र और मन्त्र भी मेरी उपासना के अंग होंगे। यह समय किसी एक मत और सिद्धान्त के लिए भीतरी युद्ध ठानने का नहीं है। विदेशी आचार्य जो बौद्ध बनकर हमारे भीतर घुसे उनके कारण बौद्ध बिहार और मन्दिर कोस भर से दुर्गन्धि फैलाते रहे हैं। ये नये यवन जो अपने नये धर्म की उत्तेजना में बढ़ रहे हैं जब यहाँ जम जायेंगे हमारी गति क्या होगी? उस दिन के प्रयत्न के लिए हमारा ऊपरी वेष संन्यासी का पर भीतरी मनोबल कर्मयोग और वेद की निष्ठा का बनेगा।

कुमारिल—तब मैं सुख से मरूँगा। मुझे तो यह चिन्ता हो गई थी कि कहीं तुम भी छिपे-छिपे···

शंकर—(**हँसकर**) प्रच्छन्न बौद्ध आप भी कहेंगे मुझे। ब्रह्म सूत्रों के अपने इस भाष्य को लेकर आया था मैं आपकी सेवा में इस इच्छा से कि आप इसके वार्तिक लिखेंगे।

कुमारिल—देना तो मुझे।

शंकर—(**ग्रन्थ के पन्ने खोलते हुए**) हां यह है।

कुमारिल—अवसर होता मुझे तो आठ सहस्र वार्तिक तो मैं बना ही देता पर अब मैं अग्नि-दाह से दीक्षित हूँ।

शंकर—और यह दीक्षा स्वेच्छापूर्वक अकारण है।

कुमारिल—ऐसा नहीं, एक अक्षर का पढ़ाने वाला भी गुरु होता है। बौद्ध दर्शन के रहस्य लाभ के लिए जिस गुरु का मैं शिष्य बना, वैदिक धर्म के विषय में भरी सभा के भीतर उसी को मैंने शास्त्रार्थ में पराजित किया। यह मेरा पहला पाप है और मीमांसा सिद्धान्त के

अनुसार ईश्वर का जो खण्डन किया मैंने, वह दूसरा पाप।

शंकर—पर अपने श्लोक वार्तिक के आरम्भ में आपने भगवान की स्तुति जो की है।

कुमारिल—वह स्तुति भी बुद्धि से की गई है वत्स! भाव से नहीं। फिर भी कर्म को प्रधान मानकर मीमांसा को आस्तिक मार्ग में ले चलने का प्रयत्न भी इस सिद्धान्त में पहले-पहल मैंने ही किया।

शंकर—आपका चरित्र गंगा के प्रवाह-सा पवित्र है आचार्य! अब मेरा यह भाष्य बिना वार्तिक के रह जायगा।

कुमारिल—भविष्य में सन्देह न करो संन्यासी। तुम्हारे वार्तिक बनाने वाले कभी आयेंगे। एक व्यक्ति इस समय भी है जो तुम उसे शास्त्रार्थ में हरा कर संन्यासी बना लो।

शंकर—कौन हैं ये महापुरुष आचार्य?

कुमारिल—मीमांसक विश्वरूप। पण्डित मण्डली में वे मण्डन मिश्र के नाम से विख्यात हैं।

शंकर—तो जब तक आपके शरीर में प्राण रहें मैं यहीं रहूँ।

कुमारिल—नहीं जी, शरीर सदैव नश्वर है···जिसका कभी नाश न हो तुम उस कीर्ति का अर्जन करो। अभी इसी समय तुम चले जाओ मण्डन के यहाँ। शास्त्रार्थ में उसे जीतकर वेदान्त की ध्वजा फहराओ। मेरा नाम लेकर कहना कि तुम्हारे इस भाष्य का वार्तिककार मैंने उसे ही चुना है।

परिवर्तन

पद्मपाद—आचार्य। समूची शिष्य मण्डली के साथ मण्डन के द्वार पर चलेंगे?

शंकर—नहीं, इस शिवालय के जगमोहन में तब तक और लोग विश्राम करें और मैं अकेले मण्डन का दर्शन करूँ। मध्यान्ह हो रहा है। किधर से मार्ग होगा उनके घर का। रूको तुम यहीं। सिर पर कलश

लिए जल भरने देवियाँ आ रही हैं। उनसे पूछ लेता हूँ मैं। **(दूर की ध्वनि)** कहो भगवती ! मण्डन मिश्र का घर कौन है ?

एक स्त्री—आप कहीं बाहर से आ रहे हैं महात्मा ! किसी दूर देश से ?

शंकर—हाँ भगवती, प्रयाग से।

स्त्री—तभी तो आप नहीं जानते। तो फिर सुनिये, आप सीधे चले जाइए। जिस भवन के द्वार पर पिंजडे में बैठी मैना कहती हो, यह संसार नित्य है कि अनित्य, वेद स्वतः प्रमाण हैं या उन का प्रमाण कुछ और है ? आप जान लीजिएगा वही भवन मण्डन मिश्र का है।

शंकर—**(द्वार के पिंजड़े में पक्षी को देखकर)** यही भवन मण्डन मिश्र का है···कहो भाई द्वारपाल, तुम्हारे स्वामी इस समय कहाँ हैं ?

द्वारपाल—अग्नि होत्र कर रहे हैं वे इस समय।

शंकर—कह दो उनसे, संन्यासी शंकर शास्त्रार्थ की भिक्षा मांगता है।

द्वारपाल—**(विस्मय में)** अच्छा, तुम्हारी आयु क्या है ? अभी तो तुम्हें रेख भी नहीं आयी।

शंकर—मेरी रेख की चिन्ता तुम्हें न हो द्वारपाल। इसकी चिन्ता वे करेंगे तुम्हारे स्वामी।

मण्डन मिश्र—**(दूर की ध्वनि)** शास्त्रार्थ की भिक्षा। क्या नाम लिया ? संन्यासी शंकर ? भेज दो यहीं।

शंकर—**(प्रवेश कर)** भगवान कुमारिल ने मुझे आप की सेवा में भेजा है।

मण्डन मिश्र—किस लिए संन्यासी ? दया आ रही है मुझे इस आयु में तुम्हारा यह वेष देखकर। बौद्धों के अज्ञान में तुम कैसे पड़ गये। कर्म बंधन में स्वयं भगवान् हैं, क्या यह नहीं जानते तुम ?

शंकर—उत्तर काशी की जिस गुहा में बैठ कर बादरायण ने ब्रह्म सूत्रों की रचना की थी उसी गुहा में पिछले तीन वर्ष रह कर मैंने उन सूत्रों का भाष्य लिखा है, आप कृपा कर मेरे भाष्य के वार्तिक

लिख दीजिए। आप की दया मुझ पर इस रूप में घटित हो।

मण्डन मिश्र—पर मैं अद्वैत वेदान्त नहीं मानता। मैं मीमांसक हूँ। भगवान् जैमिनी का उत्तराधिकारी। व्यास की विडम्बना में मैं नहीं पड़ता।

शंकर—यही जान कर मैं शास्त्रार्थ की इच्छा करता हूँ। जो आप जीत जायँ, मुझे कर्मकांड में दीक्षित करें। और जो मैं जीत जाऊँ तो आपको संन्यास की दीक्षा दूँ। और तब आप मेरे भाष्य पर वार्तिक लिखें।

मण्डन मिश्र—छोटे मुँह बड़ी बात कर रहे हो संन्यासी। मेरा नाम तुमने अभी नहीं सुना?

शंकर—मुँह छोटा और बड़ा नहीं होता पंडित, बड़ा और छोटा होता है विवेक। मेधा बड़ी और छोटी होती है। भट्ट कुमारिल ने जिसका नाम स्वयं लिया उसका नाम जानने को शेष नहीं है मेरे लिए।

मण्डन मिश्र—(**हँस कर**) विलक्षण हो संन्यासी तुम। सूर्य के साथ चन्द्रमा का, कार्तिकेय के साथ कंदर्प का, समुद्र के साथ सोते का युद्ध नहीं होता। शास्त्रार्थ में तुम्हें जीतकर भी मेरा यश नहीं बढ़ेगा। फिर भी तुम हठ कर रहे हो तो मुझे स्वीकार है। मध्यस्थ का कार्य कौन करेगा हम दोनों के शास्त्रार्थ में? सूझ रहा है कोई व्यक्ति ऐसा तुम्हें?

शंकर—(**हंस कर**) वह व्यक्ति भी इसी घर में है। कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा। आपकी पत्नी देवी भारती मध्यस्थ का कार्य करेंगी।

मण्डन मिश्र—तब कहो कि तुम व्यवहार कुशल भी हो। मेरी पत्नी का विश्वास तुम संन्यासी होकर करोगे, जिसने जाना ही नहीं कि पत्नी का मोह पति पर कितना अधिक होता है।

शंकर—इतना जानता हूँ मैं वे स्वयं सरस्वती हैं। विद्या और ज्ञान का स्थान उनके लिए पति के प्रेम से ऊपर है। उनका निर्णय निष्पक्ष होगा।

मण्डन मिश्र—और निर्णय तुम्हारे विरुद्ध हो तब

शंकर—फिर भी वह निष्पक्ष होगा। उनके न्याय में संदेह का पाप मैं नहीं प्रस्तुत करूँगा।

भारती—(**प्रवेश कर**) क्या कह रहे हो संन्यासी। अपने निर्णय से मैं पति को संन्यासी बनने दूँगी ? मेरा हृदय किस धातु से बना है ?

शंकर—शुद्ध सोने से, उसमें कोई दूसरी मिलावट पच नहीं सकती।

भारती—अच्छी बात, तब मुझे स्वीकार है। मन, वचन और कर्म से जो मैं सदैव पति को भगवान् मानती रही तो मेरा निर्णय निष्पक्ष होगा।

मण्डन मिश्र—मध्यान्ह हो गया सन्यासी ! पहले आतिथ्य स्वीकार करो। कर्मकांड और गृहस्थ-धर्म में अतिथि देवता है। अकेले आये हो ?

शंकर—दक्षिण और उत्तर के सब मिल कर दो सौ शिष्य साथ हैं।

मण्डन मिश्र—कहाँ हैं वे ?

शंकर—नदी किनारे शिव के मन्दिर में।

मण्डन मिश्र—यहाँ वे सब मेरे अतिथि होंगे। आज पहले आतिथ्य लो और विश्राम करो। कल प्रातः काल से हमारा विवाद चलेगा, जिसमें न हम परस्पर व्यंग की चोट करेंगे, न खीझ कर आकाश देखेंगे और न अंगों और मुद्राओं से क्रोध के वश में बनेंगे।

शंकर—पंडित मंडली के मण्डन स्वरूप आपसे शील और विनय की आशा ठीक ही है। सम्भव है यह अबोध संन्यासी कभी उद्धत हो जाय, उसे भी क्षमा करेंगे आप।

मण्डन मिश्र—हाँ, तब क्या···'विष कुम्भे पयोमुखम्' (**मन्द हँसी**)

परिवर्तन

भारती—(**सूर्य को अर्घ्य देते हुए**) भुवन भास्कर आपसे कहीं कुछ छिपा नहीं है। सबके मन की गति आप जानते हैं। मीमांसक पति और संन्यासी शंकर का यह शास्त्रार्थ कब तक चलेगा ? तीन दिन बीत गए,

आज यह चौथे दिन का प्रभात है। इस विवाद के मध्यस्थ का भार अब मुझ से नही चलता। अतिथियों की व्यवस्था और गृह-कार्य में भी बाधा पड़ रही है। निष्पक्ष रहकर भी पति के विजय की कामना इस मन में बार बार समुद्र की लहरों सी उठने लगती है, तो अब क्या करूँ ?

मण्डन मिश्र—**(प्रवेश कर)** अभी अर्घ्य समाप्त नहीं हुआ ? संन्यासी शिष्यों के साथ मण्डप में आ बैठा। बिना मध्यस्थ के शास्त्रार्थ कैसे चलेगा ?

भारती—आ रही हूँ मैं प्रभु ! अभी मेरी जगह मध्यस्थ का कार्य सूर्य का प्रभा पिण्ड करेगा।

मण्डन मिश्र—क्या अर्थ ?

भारती—जगत के मूल कारण और जीव-मात्र, लता, वृक्ष के भी आधार जो भगवान् सूर्यदेव हैं उनके अंश से मध्यस्थ का काम चलेगा।

मण्डन मिश्र—सो कैसे ?

भारती—अर्घ्य की इन दो मालाओं में से एक एक आप दोनों के कंठ में डाल दूँगी मैं अभी ··जिसके कण्ठ की माला का रंग मन्द पड़ेगा और माला सूखने लगेगी उसी की हार मानी जायेगी। सूर्य के अंश से ही माला सूखेगी।

मण्डन मिश्र—ठीक है, पर जो संन्यासी इसे न माने ?

भारती—आप चलें अपने आसन पर, उनसे भी आसन ग्रहण करने को कहें, मैं अभी आई। **(जाने की ध्वनि)** पतिव्रता इस परीक्षा में सफल हो और इसके साक्षी आप स्वयं बनें, भगवान सूर्यदेव।

मण्डन मिश्र—आसन ग्रहण करो संन्यासी। भगवती अर्घ्य दे कर अभी आ रही हैं।

भारती—**(प्रवेश कर)** सूर्य के अर्घ्य के ये दो हार, दोनों प्रतिद्वन्दियों के कंठ में डाल कर मैं निश्चिंत हो रही हूँ। जिसके कण्ठ की माला पहले सूखेगी उसकी हार मान ली जायेगी।

शंकर—यह क्यों भगवती ?

भारती—गृह-कार्य में बाधा पड़ रही है संन्यासी ! और फिर यह

मेरी व्यवस्था है, न मानना हो सो कहो।

शंकर—आपकी कोई भी व्यवस्था मान्य है मुझे। दीजिए पहले मुझे माला।

भारती—ऐसा नहीं संन्यासी। पति से बड़ा देवता पत्नी के लिए कोई दूसरा नहीं होता। माला मैं पहनाऊँगी पहले पति के कण्ठ में तब तुम्हारे। हाँ, यह माला आपके कण्ठ में मीमांसक! अब संन्यासी, थोड़ा सिर झुकाओ! (**दोनों के कण्ठ में माला डालती है**)

भारती—इस समय मैं चल रही हूँ अतिथियों की व्यवस्था में। किसके कण्ठ की माला सूख रही है, इसका आभास मुझे मिल जायगा और मैं तब स्वयं आ जाऊँगी।

(**भारती का प्रस्थान**)

शंकर—अब आगे की स्थापना आप नहीं सुनेंगी।

कई स्वर—आचार्य शंकर की जय।

कई स्वर—मीमांसक मण्डन की जय।

पद्मपाद—मीमांसक के कण्ठ की माला मुरझा रही है।

शंकर—श्रुति का प्रतिपाद्य विषय 'तत्वमसि' का अभेद प्रतिपादन है मीमांसक! भेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुति दुर्बल होगी। जीव और ब्रह्म की एकता ही चरम सत्य है। इसका विरोध न प्रत्यक्ष से है, न अनुमान से और न श्रुति से।

पद्मपाद—आपके कण्ठ की माला मुरझा गई मीमांसक! पाला पड़े कमल की तरह आपके मुख का तेज भी मन्द पड़ गया।

भारती—(**प्रवेश कर**) आपकी विजय है संन्यासी, मीमांसक हार गए।

शंकर—काषाय वस्त्र ले आओ पद्मपाद! मीमांसक को यहीं संन्यास की दीक्षा दो!

भारती—(**हँसकर**) यहीं इसी मण्डप में संन्यासी! पर तुमने अभी उनके आधे अंग को जीता है। आधी मैं अभी बची हूँ, मुझे जीत लो, और

तब उन्हें संन्यास की दीक्षा दो।

शंकर (आश्चर्य से) आपको भगवती ! स्त्री के साथ शास्त्रार्थ मैं करूँगा ?

भारती—यह आपके यश रूपी चन्द्रमा का कलंक होगा ? गार्गी, सुलभा और लोपामुद्रा को आप भूल कैसे गए ? याज्ञवल्क्य, जनक और अगस्त्य ने उनके साथ शास्त्रार्थ नहीं किया था ?

कई स्वर—सत्य कह रही हैं भगवती भारती।

(उत्साह और हर्ष-ध्वनि)

शंकर—ठीक है। पांण्डत मण्डली यदि चाहती है तो आपके साथ शास्त्रार्थ को तत्पर हूँ।

भारती—तब मैं अपनी वाचा प्रस्तुत करूँ ?

शंकर—हाँ, करें !

भारती— काम की कलायें कितनी होती हैं, उनके स्वरूप क्या हैं, और उनके निवास के स्थान कहाँ हैं ? शुक्ल और कृष्ण पक्ष में उनकी स्थिति समान रहती है या भिन्न ? युवती और पुरुष में इन कलाओं की स्थिति किस प्रकार है ?

शंकर—मैं जन्म का संन्यासी !

भारती—**(हँसकर)** इससे क्या संन्यासी ! तुम्हारी अनभिज्ञता से किसी विद्या का आसन नहीं डिगेगा। **महर्षि वात्स्यायन को तुम ऋषि मानते हो या नहीं ?**

शंकर—मानता हूं।

भारती—**और उनके शास्त्र को ?**

शंकर—उसे मैं भी शास्त्र मानता हूँ।

भारती—तब ?

शंकर—आपके इन प्रश्नों के उत्तर के लिए मुझे एक मास की अवधि चाहिए।

भारती—अच्छी बात, स्वीकार है मुझे।

कई स्वर—क्यों भगवती ? (**विरोध का स्वर**)

भारती—आप लोग इसका विरोध न करें। संन्यासी हमारे घर में अतिथि हैं। इनकी कामना हमें पूरी करनी है। एक महीने में इनकी स्थिति कुछ दूसरी नहीं हो जायगी, तब फिर गृहस्थ और संन्यासी, मीमांसक और अद्वैतवादी का भेद भी मिट जायगा।

परिवर्तन

विशिष्ठा—(**निर्बल और रोगी स्वर**) कह गया था शंकर आयेगा··· अन्त समय जब प्राण इस देह को छोड़ कर उड़ने को पंख फैलायेगा···

मन्त्री—(**प्रवेश कर**)—प्रणाम भगवती। केरल नरेश ने सन्देश भेजा है आपको।

विशिष्ठा—शंकर आ रहा है ? कहाँ है वह मन्त्री ? कितनी दूर ?

मन्त्री—मण्डन की पत्नी भारती ने भी आचार्य से हार मान ली। आचार्य की अद्वैत पताका अब सबसे ऊँची फहरा रही है।

विशिष्ठा—(**सम्भल कर**) इसी के लिए उसका जन्म हुआ था; मुझे तो तभी लगा था मन्त्री, वह अजातशत्रु है। दायें तलवे में चक्रवर्ती का चिन्ह—कहाँ उसे राजा बनना था, पर बन गया संन्यासी !

मन्त्री—किस राजा को कब यह कीर्ति मिली और कब मिलेगी जो आचार्य शंकर को मिली है ?

विशिष्ठा—भारती के प्रश्न का उत्तर कैसे दिया उसने ? जन्म का संन्यासी उन बातों को क्या जानेगा ?

मन्त्री—योग की गति कहाँ नहीं है, और योग से क्या नहीं जाना जाता माँ ! एक महीने की अवधि के बाद वे जब लौट कर आए, भारती ने उन्हें देखते ही कह दिया कि अब वह प्रश्न नहीं करेगी। उस विद्या में भी उनके ज्ञान का लोहा वह मान गई। मीमांसक मण्डन अब उनके ही शिष्य संन्यासी सुरेश्वर बन गए हैं। अपने शिष्यों के साथ जिस रास्ते वे निकलते हैं मार्ग के सभी बिहारों के सौगत उनसे दीक्षा लेने को मेला

लगा देते हैं ।

विशिष्ठा—कहीं ऐसा न हो कि वह सौगतों का उद्धार करने में मुझे भूल जाय ।

मन्त्री—यह आपकी दशा क्या है ? सूखकर लकड़ी बन गई हैं आप । कोई रोग हो गया है ?

विशिष्ठा— **(खेद की हँसी)** मैं अब तक मर गई होती मन्त्री । उसे देखने की लालसा में ही प्राण इस देह में टिके हैं । वही डोर है जो अब तक जीव को बाँधे है ।

मन्त्री—महाराज ने कहा है आपका मन यहाँ न लगे तो वहाँ राज-भवन में चलकर रहिये ।

विशिष्ठा—जन्म भर यही घर मेरा राज-भवन रहा है । शंकर के पूर्व पुरुषों के इस घर को छोड़ूंगी मैं एक ही दिन··· और वह दिन आज भी हो सकता है, कल भी !

मन्त्री हैं, कैसी बात कह रही हैं ?

विशिष्ठा—रात स्वप्न में···

मन्त्री—क्या ?

विशिष्ठा— आए **थे** शंकर के पिता, उनका हाथ पकड़कर मैं कहाँ गई थी, किस लोक में ? जो कुछ यहाँ देखते हैं, वहाँ एक भी नहीं था । न इस तरह का प्रकाश, न ऐसा अन्धेरा । जैसे कोई इन्द्रजाल का देश । वहाँ सबकी आयु एक ही सी थी । न कहीं बूढ़े **थे**, न रोगी ।

मन्त्री—ठंड लग रही है आपको ?

विशिष्ठा—नहीं तो ।

मन्त्री—तब फिर ऐसे काँप क्यों रही हैं ?

विशिष्ठा—यह दशा मेरी पिछले सात दिनों से है । शंकर न आए और मैं कहीं मर जाऊँ ?

मन्त्री—तब जो आपकी आज्ञा ? जाति, भाई तो यहाँ हैं हीं ।

विशिष्ठा—उसके जाने के समय तो इन लोगों ने कहा था मेरी सेवा-

सहायता करने को, पर उसके चले जाने पर उसका यश जैसे बढ़ता गया, ये लोग डाह करने लगे और अब तो सारा दिन सारी रात कोई यह भी नहीं पूछता कि घड़े में जल भी है कि नहीं ? अलवाई तक जाने का बल सात दिन हुए जब इस देह से निकल गया । उसी दिन से आहार की रुचि मर गई है । तीन दिन हो गए पानी पिए !

मन्त्री—तब मैं पानी ला दूँ ?

विशिष्ठा—उन तीन घड़ों में जल भरा है । कल से यहाँ के इन बीस नम्बूदरी घरों में एक ही ऐसी कुमारी कन्या है जो छिप कर रात रहते ही जल रख देती है । पर अब तो जैसे देह के सभी धर्म मर गए हैं भूख-प्यास सब···साँस भर चल रही है, यह जब न रुक जाय । आज की रात जो बीत जाय ।

मन्त्री—तब मैं यहीं रह जाऊँ ?

विशिष्ठा—आप नम्बूदरी नहीं हैं, मुँह में अग्नि देने का अधिकार सगोत्र को ही है । पर जो शंकर नहीं आया···मैं जानती हूँ ये लोग मुझे अग्नि भी न देंगे; तब इस देह की क्या गति होगी ।

(नेपथ्य में कोलाहल)

मन्त्री—ऐं !

विशिष्ठा—कैसा कोलाहल है यह ? मुझे सुनाई कम पड़ रहा है ।

मन्त्री—**(जाते हुए)** आ गए क्या आचार्य ! नाम तो उन्हीं का लोग ले रहे हैं । देखूँ मैं बाहर ?

शंकर—कुशल तो है मन्त्री ? माँ हैं अभी ?

मन्त्री—हाँ !

शंकर—**(प्रवेश कर)** माँ !

विशिष्ठा—आ ही गये शंकर तुम ?

शंकर—**(ऊँची साँस लेकर)** तीन दिन में सौ कोस धरती पार कर अरे ! तुम्हारी यह दशा···तब मेरी शंका झूठी नहीं थी ।

मन्त्री—कैसी शंका आचार्य ?

शंकर—आप यहाँ से अब जाइए। महाराज को मेरे आने की सूचना दे दीजिये। मेरे लिए इसी घड़ी की प्रतीक्षा में माँ जीती रहीं ये अब मरेंगी। मरना तो इन्हें परसों ही था।

विशिष्ठा—(**निर्बल स्वर में**) हाँ, जब मैं अचेत हो गई थी !

मन्त्री—पर यहाँ जाति वालों में विचार नहीं है और आप अकेले आये हैं, सुनते थे आपके शिष्य सहस्रों हैं।

शंकर—हैं, पर इस अवसर पर भीड़ लेकर आना, जैसे यहाँ से अकेले गया था, माता की अन्तिम बेला में अकेले आ भी गया।

मन्त्री—महाराज के साथ कोई वैद्य भी आयेगा ?

शंकर—उनके आने तक यह जीवित न रहेंगी। अब इनके वैद्य नारायण हैं और औषध है गंगाजल। जाइए आप, मैं तो हूँ यहीं।

मन्त्री—(**जाते जाते दूर की ध्वनि**) प्रणाम भगवती ! आपको भी आचार्य !

शंकर—मैं आपके सामने बालक हूँ मन्त्री ! प्रणाम मेरा है आपको ?

विशिष्ठा—सहारा दो अब शंकर जिस फल के लिए प्राण देह से लगा रहा।

शंकर—बैठोगी मेरे सहारे···

विशिष्ठा—तीन दिन से यहीं आंगन में रह गई—कब न साँस निकल जाय।

शंकर—तुमने भी कुछ देखा माँ। कुछ ऐसा जो पहले कभी न देखा हो।

विशिष्ठा—तीन रात से बराबर तुम्हारे पिता के साथ कोई ऐसा लोक जो इन्द्रजाल हो।

शंकर—और यही देख कर मैं भी भाग आया कि माँ अब जा रही हैं। तुम मर भी जाती और ये जाति के लोग यहाँ न आते···यही न ?

विशिष्ठा—इसीलिए यहाँ तुलसी के किनारे तीन दिन से पड़ी हूँ। गंगाजल भी यहीं है।

शंकर—अपने हाथ इस समय गंगाजल ले पाती माँ !

विशिष्ठा—कैसे कहूँ, सोचा यही था (**कराहने की ध्वनि**)

शंकर—माँ ! माँ ! माँ ! तब खोलो···मुँह खोलो माँ ··यह गंगाजल और यह तुलसी दल (**मुंह में गंगाजल और तुलसीदल डालते हैं**) "औषधि जान्हवी तोयं वैद्यो नारायणो हरि।"

कई स्वर—संन्यासी···कैसे दाह कर्म करेगा ?

शंकर—मैं पहले इस माता का पुत्र हूँ, और फिर संन्यासी। मुझसे यही वचन लेकर माँ ने जाने दिया था।

एक स्वर—तब हम लोग किसी काम में साथ नहीं देंगे।

शंकर—(**हँसकर**) थोड़ी अग्नि दे दें आप लोग, और मैं सब कर लूँगा।

एक स्वर—अकेले शव उठाओगे ?

शंकर—गोत्र के लोग जब साथ नहीं देंगे, दूसरा क्या होगा ?

एक स्वर—चिता भी बना लोगे अकेले ?

शंकर—हाँ !

कई स्वर—तब हम लोग आग भी नहीं देंगे।

एक स्वर—नम्बूदरी कुल की प्रतिष्ठा बिगाड़ रहे हो शंकर !

शंकर—माता के संस्कार में आप लोग साथ देते·· संन्यासी शंकर का कुल अब कहाँ है।

एक स्वर—दाह-कर्म तुम करोगे संन्यासी होकर क्या हमारे कुल का निर्वंश हो गया है।

शंकर—माता को जो वचन मैंने दिया था उसे नहीं तोड़ूँगा मैं।

एक स्वर—तब हम लोग जा रहे हैं। जो मन में आए करो।

शंकर—ठीक है। मैं अरणी से अग्नि पैदा करूँगा। (**दो लकड़ियों के रगड़ने और अग्नि के पैदा होने की ध्वनि, लकड़ी टूटने और एक स्थान**

पर रखने की ध्वनि होती है ।) अब चलें, माता का शव इस चिता पर रख अग्नि लगा दें। सो जाओ माता तुम इस चिता पर, मैं अग्नि द रहा हूँ। आज से नम्बूदरी वंश का शव-दाह घर के द्वार पर ही होगा। **(चिता में आग देने और धधकने की ध्वनि)**

राजशेखर—**(प्रवेश कर)** माता की चिता जल रही है आचार्य! घर के द्वार पर ?

शंकर—हाँ, महाराज । जहाँ सन्यासी दाह करेगा, सगोत्री साथ नही देंगे शाप दिया है मैंने इन गोत्र वालों को, इनके शव इनके द्वार पर ही जलेंगे। मैंने कभी कोई कामना प्रगट नहीं की। आज्ञा हो तो अपनी एक कामना आप से कहूँ ।

राजशेखर—कहिए भगवन । आपके लिए मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है।

शंकर—मेरे इस शाप में आप भी सहायक हों । इनका शव इनके द्वार पर जले और तब मेरा इस प्रकार शव-दाह मेरे इस कुल का इतिहास बन जाय।

राजशेखर—स्वीकार करता हूँ मैं। आज से नम्बूदरी ब्राह्मण अपना शव-दाह अपने द्वार पर करेंगे। इनका श्मशान इनके द्वार पर होगा।

परिवर्तन

(एकत्रित भीड़ का कोलाहल और गंगा के प्रवाह की ध्वनि)

राजशेखर— (हँसकर) तो मीमाँसा के पंडित मण्डन मिश्र आप ही हैं ?

सुरेश्वर—अब नही राजन्···अब तो मैं आचार्य का शिष्य वेदान्ती सुरेश्वर हूँ। जिस मण्डन को आप जानते हैं वह मर गया। शास्त्रार्थ में जीतकर प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्य ने मुझे संन्यास धर्म की दीक्षा दी।

राजशेखर—कोई बात नहीं। सूर्य का तेज भी बराबर एक-सा नहीं रहता। सन्ध्या को नित्य देखते हैं हम त्रिभुवन विजयी सूर्य को डूबते···

सुरेश्वर—ओ हो··· । आप समझते हैं मुझे आचार्य से हार जाने का खेद है । पिछले पाँच वर्ष उन्हें निकट से देखकर, उन के ज्ञान के समुद्र में डूबकर, उनके स्नेह से बल लेकर मैं जान गया हूँ मेरी हार में ही इस देश के जीवन और धर्म का कल्याण हुआ है ।

राजशेखर—हूँ···

सुरेश्वर—आप नहीं समझ रहे हैं राजन् । भट्ट कुमारिल ने सौगतों और वाममार्गियों को बुद्धि से हराया था—तर्क और शास्त्रार्थ से । आचार्य शंकर ने उन्हें शील और विनय से भी वश में किया है । शंकर और विष्णु के स्तोत्रों के साथ बुद्ध के स्तोत्र भी जब वे गाने लगते हैं कोई नहीं समझ पाता विष्णु के अन्य अवतारों और बुद्ध में अन्तर कहाँ है ।

राजशेखर—बुद्ध की मूर्तियों को आचार्य विष्णु की मूर्तियाँ कह रहे हैं ।

सुरेश्वर—(**हँसकर**) हा···हा हा हा···क्या यह सच नहीं है महाराज कि उन मूर्तियों की पूजा में इस देश के नर-नारी युगों से लगे रहे हैं । उन से उन्हें वही सन्तोष मिला है, जो शंकर की मूर्ति से, विष्णु और सूर्य की मूर्ति से मिलता और फिर समूचे देश में फैले प्रायः एक कोटि बौद्धों को आचार्य ने संन्यास धर्म की दीक्षा देकर दशनामी साधुओं में बाँट दिया है । वे उन मूर्तियों को उसी भाव से पूजते रहेंगे जिससे वे पूजते आए ।

राजशेखर—फिर तो वाम-मार्ग कहाँ गया ?

सुरेश्वर—ये मूर्तियाँ और मन्दिर, बिहार के पत्थर नहीं उनमें रहने वाले लोग वाम-मार्गी थे । धर्मकीर्ति और दिगं नाग ने जो मार्ग दिया था लोग उस पर तब तक चले जब तक कुमारिल और शंकर नहीं आ गए । जनता जिसकी ध्वजा ऊँची देखती है उस के पीछे चल पड़ती है ।

राजशेखर—फिर आचार्य के इस धर्म को क्या कहेंगे जिसमें सौगत और वाममार्ग वाले भी हैं ।

सुरेश्वर—श्रुति और स्मृति का धर्म कहा जायगा यह ।

राजशेखर—श्रौतस्मार्त···

सुरेश्वर—हुँ···हुँ···यह नाम बड़ा होगा राजन्···ऐसे विस्मय में न पड़ें। तथागत ने कोई नया धर्म नहीं चलाया था। यज्ञों की हिंसा के विरुद्ध उन की दया जागी थी। नहीं तो सब ओर से उन का धर्म वेद सम्मत था। धर्मकीर्ति से नास्तिक और विदेशी वाम मार्ग वालों ने उस धर्म को इतना कलंकित··· ·

शंकर—(**प्रवेश कर**) य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती।
स बुद्धः प्रबुद्धोस्तु मच्चित्तवर्ती॥

राजशेखर—यह तो भगवान गौतम की स्तुति कर रहे हैं। प्रणाम स्वीकार हो।

शंकर—यश मिले तुम्हें राजन्···कब आए?

राजशेखर—अभी आया भगवन! आप का निमन्त्रण मिला था।

शंकर—मेरा निमन्त्रण···क्यों तो क्या मैं कहीं विवाह करने जा रहा हूँ और आप को बारात में चलना है।

(कई कण्ठों की सम्मिलित हँसी)

राजशेखर—हा···हा···हा···और सब तो हो गया भगवन्···उतना वह भी कर डालिए। उस कन्या के भाग्य से शची भी डाह करेंगी।

शंकर—वेदान्त के साथ ही तन्त्र उपासन भी जो कर रहा है, जितने देव, देवी इस देश में पूजे गए हैं, सब की उपासना जो करता है उससे कब क्या नहीं सम्भव होगा राजन्। सावधान रहियेगा कलि के योगियों में जो चक्रवर्ती बन गए···उन बुद्ध का भी मैं उपासक हूँ। दिन और रात अलग कर नहीं देखे जा सकते। गोधूलि में कब दिन का अन्त हुआ और कब रात आई यह कोई नहीं जानता। विष्णु और बुद्ध में भेद मुझे नहीं मिलता। भेद देखने वाली बुद्धि में पाप पहले आया था, नहीं तो हम खोजकर भी इसे कहीं पाते नहीं।

राजशेखर—अपने नए शिष्यों के सन्तोष के लिए आप कह रहे हैं यह···

शंकर—इस धरती और आकाश के सन्तोष के लिए महाराज ! पन्द्रह सौ वर्ष बीत रहे हैं···तथागत का धर्म चक्र जब चला था, जो फिर प्रियदर्शी अशोक, उन के पुत्र महेन्द्र, और पुत्री संघमित्रा के हाथ में आया. अगाध समुद्र और दुर्गम पर्वत वन जिसे न रोक सके उसे यह धरती न भूलेगी···आकाश भी न भूलेगा। समुद्र का जल मेघ बनकर धरती पर बरसता है···फिर नदियों से समुद्र में चला भी जाता है। वही दशा इस धर्म की हो रही है। जहाँ से निकला था उसी में समा भी रहा है।

राजशेखर—आप के कहने का अर्थ है···

शंकर—बुद्ध हमारे अवतारों में मिल गए और उनका धर्म हमारे धर्म में। समुद्र में मिल कर नदियाँ मिट जाती हैं फिर भी उनका जल तो वहाँ रहता ही है। वेद के समुद्र में अब तक के चालू इस देश के सभी धर्म नदियों की भाँति मिल जायेंगे। स्मार्त विधान में सभी सम्प्रदाय मिल कर एक हो जायेंगे।

राजशेखर—देश के सभी धर्म और जो बाहर से आ गए।

शंकर—बाहर से आने वाले सौगत भी अब देश के ही कहे जायेंगे। इस देश की भूमि कैलाश से कन्याकुमारी तक की पृथ्वी कात्यायिनी और पार्वती के रूप में मुझे देख पड़ती है।

सुरेश्वर—और देश की आठ महानगरियों में भगवती की आठ प्रकार की दृष्टि आचार्य को देख पड़ती है।

शंकर—भगवती की दृष्टि के पहले उनका सम्पूर्ण रूप देखो भद्र।

राजशेखर—फिर आनन्द लहरी का वह श्लोक···आचार्य कवि हैं पहले।

शंकर—काव्य का रस ही वेदान्त का आनन्द है। कवि और वेदान्ती दोनों का भोग एक है·· आनन्द का भोग···चिदानन्दलतिका भगवती का रूप देखो राजन्···

(मन्द स्वर में श्लोक की ध्वनि)

सुरेश्वर—अर्थ तो समझ गए होंगे राजन्। आनन्दमयी भगवती

हिमालय से उत्पन्न लता हैं। हथेलियाँ पल्लव हैं। मोतियों के फूल लगे हैं। केशराशि भ्रमरावली है, स्थाणुः शिवः उनका आश्रम है। स्तनों के भार से नम्र है वह, सूक्ति से रसमय और व्याधि की अमोघ औषधि है।

राजशेखर—यह रूप पार्वती का है और भारत भूमि का भी तो यही रूप है।

शंकर—निश्चय पार्वती और भारत भूमि·· दोनों के एक गुण, एक धर्म और एक स्वभाव हैं। देश की आठ महानगरियाँ उनकी दृष्टि विलास हैं, जिनसे विद्या अनुराग और आनन्द की धारायें बहती हैं।

(मन्द स्वर में श्लोक की ध्वनि)

राजशेखर—इसका अर्थ एक वाक्य में यह होगा कि आठ महानगरियाँ विशाला, कल्याणी, अयोध्या, धारा, मथुरा, भोगवती, अवन्ती और विजया आनन्दमयी भगवती के दृष्टि विलास हैं।

शंकर—हाँ, भगवती पार्वती इस भारत भूमि का दूसरा रूप हैं, दूसरा नाम है सत्य एक है। **(दूर पर कोलाहल)**

सुरेश्वर—जनता अधीर हो रही है आचार्य।

शंकर—यह तो आप सुन चुके हैं महाराज! मेरे चार आचार्य चारों दिशाओं में धर्म विजय करके लौट आये।

सुरेश्वर—आचार्य या शिष्य ? **(मन्द हँसी)**

शंकर—शिष्य एक दिन आचार्य होता है नहीं तो फिर कोई शिष्य बनना न चाहे।

सुरेश्वर—यह आगंतुक किस वेश में है ? यह वेश न विंध्य के उत्तर का है न दक्षिण का। खुली छाती पर इतने बड़े मोती····**(विस्मय)**

शंकर—कहाँ से आ रहे हैं आप भगवन्!

शिवसोम—पूर्व समुद्र के स्वर्णद्वीप का नाम आपने सुना होगा देव! उसी के निकट चम्पा द्वीप के राजा इन्द्रवर्मन ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है। समूचे भारत में धर्म का जो एक मार्ग आप चला रहे हैं, पूर्व समुद्र के द्वीप निवासी भी उसी का मन्त्र चाहते हैं।

शंकर—इतनी दूर की यात्रा···जल में कितने दिन लगे ?

शिवसोम—महाशिव रात्रि को प्रस्थान किया था, आज भी प्रदोष है।

शंकर—चार महीने जल में···

शिवसोम—तीन बार हमारा पोत समुद्र के अतल में समा कर भी उतरा गया। पूर्व जन्म के पुण्य और आपके तप का बल था नहीं तो तेरह दिन, दिन और रात का भेद भी नहीं चला उस काले समुद्र में··· ज्वालामुखी की लपटों से सूर्य का काम लेना पड़ा हमें।

शंकर—आतिथ्य दो आगंतुक को भद्र···(**शिवसोम को संकेत कर**)

शिवसोम—वरुणा के संगम पर पोत खड़ा कर हम लोग इस विश्वनाथ पुरी में गंगा स्नान, विश्वनाथ दर्शन, और आहार से संतुष्ट हो कर आ रहे हैं। सौगत भी वेद विधान में कैसे आ रहे हैं, यही जानना है हमें ?

शंकर—घर से बाहर जाने वाले फिर उसी घर में नहीं आते।

शिवसोम—हूँ तो···

शंकर—चार आश्रम वेद में हैं···

शिवसोम—जी···

शंकर—सौगतों, कापालिकों, उग्र भैरवों को एक में मिला कर संन्यासी सम्प्रदाय के कई विभाग कर दिये गये हैं।

शिवसोम—जैसे ··

शंकर—जिस स्थान में जो वर्ग रहेगा उस स्थान पर उस वर्ग का नाम पड़ेगा। प्रयाग आदि तीर्थों में रहने वाला वर्ग तीर्थ नाम से पुकारा जायेगा। इसी प्रकार आशा, कामना से मुक्त वर्ग आश्रम कहा जायेगा। वन, अरण्य, पर्वत, गिरि, सागर, सरस्वती, भारती, पुरी अन्य नाम दशनामी सम्प्रदाय के रहेंगे।

शिवसोम—सुनते हैं समूचे भारत देश को आपने चार धामों के अधिकार में बाँट दिया है।

शंकर—हाँ, शृंगेरी, गोवर्धन, शारदा और ज्योति। ज्योतिमठ

बद्रिकाश्रम क्षेत्र में है जिसके अधिकार में सारा उत्तराखण्ड, कुरु, पाँचाल आदि हैं। पुरी के गोवर्धन-मठ के अधीन अंग, बंग, कलिंग और झारखण्ड के बर्बर भूखण्ड हैं। शृंगेरी के अधीन दक्षिण भारत और द्वारिका के शारदा मठ के अधीन पश्चिम भारत। ये चार विभाग देश के धार्मिक विभाग हैं। इन धामों में रहने वाले प्रधान आचार्य अपने क्षेत्र के धर्म के उत्तरदायी रहेंगे।

शिवसोम—गृहस्थ भी आपके शिष्य बने है ?

शंकर—संन्यासी आचार्य मठ के अर्थ और योगक्षेम को ठीक से न चला सकेंगे। इसकी देख रेख मेरे वे गृहस्थ शिष्य करेंगे जो जनता के सम्पर्क में रहकर उनके हित में कार्य करेंगे।

शिवसोम—अर्थ का कार्य इन चार बड़े मठों का कैसे चलेगा ?

शंकर—इन चार मठों के अतिरिक्त बावन मठियाँ भी और हैं। पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण मैं स्वयं घूमता रहा। चार मठों के प्रधान आचार्य भी शिष्यों के साथ अपने क्षेत्र में धर्म विजय कर के लौट आये। सारे देश भर के राजा अपने कोष का पञ्चमांश देने को तत्पर हैं। पर यह कार्य सीधे जनपदों और नागरिकों से लेना ठीक होगा।

सुरेश्वर—सब लोग अपने स्थान पर बैठ गये हैं। राजा पूर्व की ओर, विद्वान उत्तर की ओर, संन्यासी दक्षिण और दूसरे भद्रजन पश्चिम की ओर बैठे हैं। चातक जैसे मेघ की प्रतीक्षा करता है···सबकी आँखें इधर ही लगी हैं।

शंकर—तब फिर चलो···हाँ आपका नाम···

शिवसोम—मुझे शिवसोम कहते हैं आचार्य !

शंकर—आप भी चलें। धर्म की इस सभा में दूर के छोर के विद्वान और राजा आये हैं। भाग्य से पूर्व समुद्र के प्रतिनिधि भी आ गये।

(जाने की ध्वनि)

एक स्वर—शान्त रहें आप लोग···आकाश में सूर्य की भाँति भगवान शंकर आ रहे हैं। **(मेला जैसी भीड़ का कोलाहल। रह रह कर**

वेद और वाद्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है)

पद्मपाद—सुनें, आप लोग सावधान हो कर सुनें । सबसे पहले मैं भगवान शंकर के दशनामी संन्यासियों से प्रार्थना करता हूँ कि जो लोग अपने आसनों पर बैठे हैं, शान्ति से रहें और जो जनता की व्यवस्था कर रहे हैं, वे लोग उनसे शान्त रहने की प्रार्थना करें । देश भर के पण्डित और तपस्वी, राजा और माण्डलीक इस शुभ अवसर के लिये पवित्र काशीपुरी में एकत्रित हैं, भक्तजन जो दूर दूर से चल कर यहाँ आये हैं। भगवान शंकर अब अपने श्रीमुख से उनका कर्त्तव्य उन्हें बतायेंगे ।

सुरेश्वर—सज्जनों, मेरा नाम सुरेश्वर है । मैं वह मण्डन मिश्र हूँ जिसे शास्त्रार्थ में हरा कर भगवान शंकर ने अपने शिष्य का पद देकर भाग्यवान बनाया है । मैं आपके सामने स्वीकार करता हूँ कि देश का कल्याण भगवान शंकर के मार्ग पर चलने में है । बौद्ध, जैन, पाशुपत, पाञ्चरात्र, कापालिक, शावत, गाणपत्य आदि जो अनेक धर्मों का संघर्ष हमारे देश और जाति में चलता रहा है और घुन-सा हमारे राष्ट्र-शरीर का नाश करता रहा है, वह संघर्ष भगवान शंकर के स्मार्त विधान में अब मिट गया है और जो कुछ लुके छिपे कहीं बचा है, वह भी मिट कर रहेगा ।

कई स्वर—सत्य है···सत्य है ।

सुरेश्वर—सारा देश आचार्य को अब भगवान शंकर का अवतार मान रहा है । मेरे गुरु भट्ट कुमारिल से इनकी भेंट प्रयाग राज में हुई थी । उन्होंने भी धर्म और देश के कल्याण के लिए इनकी व्यवस्था को मान्य किया था । आप लोगों की ओर से मैं आचार्य से प्रार्थना कर रहा हूँ कि वे अपने श्रीमुख से हम लोगों को भविष्य का संकेत दें । जब तक वे हम लोगों के बीच में थे, हम सब ओर से निर्भय थे । पर अब वे अपने जीवन का कार्य समाप्त कर परमधाम की कामना से उत्तर काशी और कैलाश की ओर जा रहे हैं ।

(सम्मिलित कोलाहल और हर्ष-ध्वनि)

शंकर—उपस्थित जन, पण्डित और विचारक, गृही और संन्यासी,

पहले मेरा प्रणाम स्वीकार करें। आप लोगो को उपदेश देने का बल और ज्ञान मुझ में नहीं है। जो प्रतिष्ठा आप लोग मुझे दे रहे हैं, वह केवल मेरी नहीं, आप सबकी, इस समूचे देश की है। देश और धर्म की दुर्दशा का ज्ञान मुझे तभी हुआ, जब मैं आठ वर्ष का था। सिन्धु देश में नये यवन धर्म का आ जाना मेरी आँखों का अञ्जन बना था। तब से मैं बराबर देश में फैले धर्मों के वैर मिटाने में ही लगा रहा हूँ। आप लोग भी मेरे न रहने पर यही करेंगे।

(नेपथ्य में—"साधु! साधु!···भगवान शंकर की जय, जय, जय।")

शंकर—मायावाद और अद्वैत-दर्शन का साधक होकर भी मैं लोक-सञ्चय और लोक-संग्रह में लगा रहा। वेदान्त और मीमांसा में परस्पर विरोध कहीं नहीं है। दोनों परस्पर सहायक और पूरक हैं। समूचे देश को चार भागों में बाँट कर धर्म के चार पीठ जो स्थापित किये गये हैं, जिनके साथ सात अखाड़े और बावन मठियाँ हैं, इन सबको आप देश के धर्म की सेना मानें। आप लोग जानते होंगे भगवान बुद्ध की प्रशस्ति मैंने अपने हाथों लिखी है। फिर भी इस धर्म में विदेशियों के मिल जाने से जिस भयानक वाममार्ग का प्रचार हुआ, उसके निवारण में मेरी ही प्रेरणा से शस्त्र और शास्त्र का जो व्यवहार हुआ, उस सबका उत्तर-दायित्व मुझ पर है।

नेपथ्य में—धन्य है, धन्य है।

शंकर—मुझे अब और कुछ नहीं कहना है। देश और धर्म को यदि जीवित रहना होगा तो आप लोग अपने कर्तव्य से सजग रहेंगे···देश के उद्धारक को भोग से दूर रहना होगा नहीं तो लोक उसका विश्वास नहीं कर सकेगा। लोक-कल्याण और लोकविश्वास जहाँ परस्पर विरोधी होंगे, भोगवादी जब दूसरों को त्याग का उपदेश देंगे, वहाँ कल्याण की स्थिति गूलर के फूल जैसी होगी। बोलिये, धर्म का कल्याण हो, लोक का कल्याण हो, समाज का योग और क्षेम भाव बना रहे। आपके इस संकल्प के साक्षी इस महादेव पुरी के महादेव हैं।

(अनेक कण्ठों से जय ध्वनि और कोलाहल)

हमारा रोचक नाट्य-साहित्य

विष-पान (ऐतिहासिक)	हरिकृष्ण 'प्रेमी'	२.००
स्वप्न-भंग (ऐतिहासिक)	हरिकृष्ण 'प्रेमी'	१.५०
उद्धार (ऐतिहासिक)	हरिकृष्ण 'प्रेमी'	१.५०
शपथ (सांस्कृतिक)	हरिकृष्ण 'प्रेमी'	२.५०
छाया (सामाजिक)	हरिकृष्ण 'प्रेमी'	१.००
शतरंज के खिलाड़ी (ऐतिहासिक)	हरिकृष्ण 'प्रेमी'	१.५०
समर्पण (सामाजिक)	जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'	१.७५
शक-विजय (ऐतिहासिक)	उदयशंकर भट्ट	१.७५
विश्वामित्र और दो भाव नाट्य	उदयशंकर भट्ट	३.००
उर्मिला (ऐतिहासिक)	पृथ्वीनाथ शर्मा	१.००
सुभद्रा-परिणय (पौराणिक)	वीरेन्द्रकुमार गुप्त	२.००
शक्ति-पूजा (पौराणिक)	वी० मुखर्जी 'गुंजन'	१.२५
शान्ति-दूत (समस्यात्मक पौराणिक)	देवदत्त 'अटल'	१.२५
मानव प्रताप (ऐतिहासिक)	देवराज 'दिनेश'	२.००
यशस्वी भोज (ऐतिहासिक)	देवराज 'दिनेश'	१.५०
हर्षवर्धन (ऐतिहासिक)	वेकुण्ठनाथ दुग्गल	१.००
रेडियो-नाटक	हरिश्चन्द्र खन्ना	६.००
पग-ध्वनि (गांधी आदर्शों पर आधारित)	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	१.५०
वितस्ता की लहरें (ऐतिहासिक)	लक्ष्मीनारायण मिश्र	१.५०
बहू-बेटी (पारिवारिक नाटक)	श्रीकृष्ण	०·७५
समाज के स्तम्भ (इब्सन) (सामाजिक)	सीताचरण दीक्षित	२.००
आनन्द का राजपथ (शालेय संवाद)	सीताचरण दीक्षित	२.००
एटम दैत्य (सचित्र बालोपयोगी नाटक)	सन्तोष : परितोष गार्गी	१.००
भूमि कन्या सीता (ऐतिहासिक)	भा० वि० वरेरकर	१.२५
कलाके लिए (कलात्मक)	भा० वि० वरेरकर	१.२५
अ-पूर्व बंगाल (नारी समस्या पर)	भा० वि० वरेरकर	१.२५
कोरी करामात (मद्य-निषेध समस्या पर)	भा० वि० वरेरकर	१.५०
रेलगाड़ी के डिब्बे (एकांकी-संग्रह)	अरुण एम० ए०	२.००
बादलों के पार (एकांकी)	हरिकृष्ण 'प्रेमी'	३.००
आदिम-युग (एकांकी-संग्रह)	उदयशंकर भट्ट	४.००
सफ़र की साथिन (हास्य रस एकांकी)	रामसरण शर्मा	१.७५
एकांकी समुच्चय (प्रसिद्ध एकांकी-संग्रह)	जयनाथ 'नलिन'	३.००
ऐतिहासिक हृदय (सचित्र)	श्यामलाल	१.५०

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६